सहजानंद शास्त्रमाला

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय प्रवचन

भाग - 2

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय प्रवचन

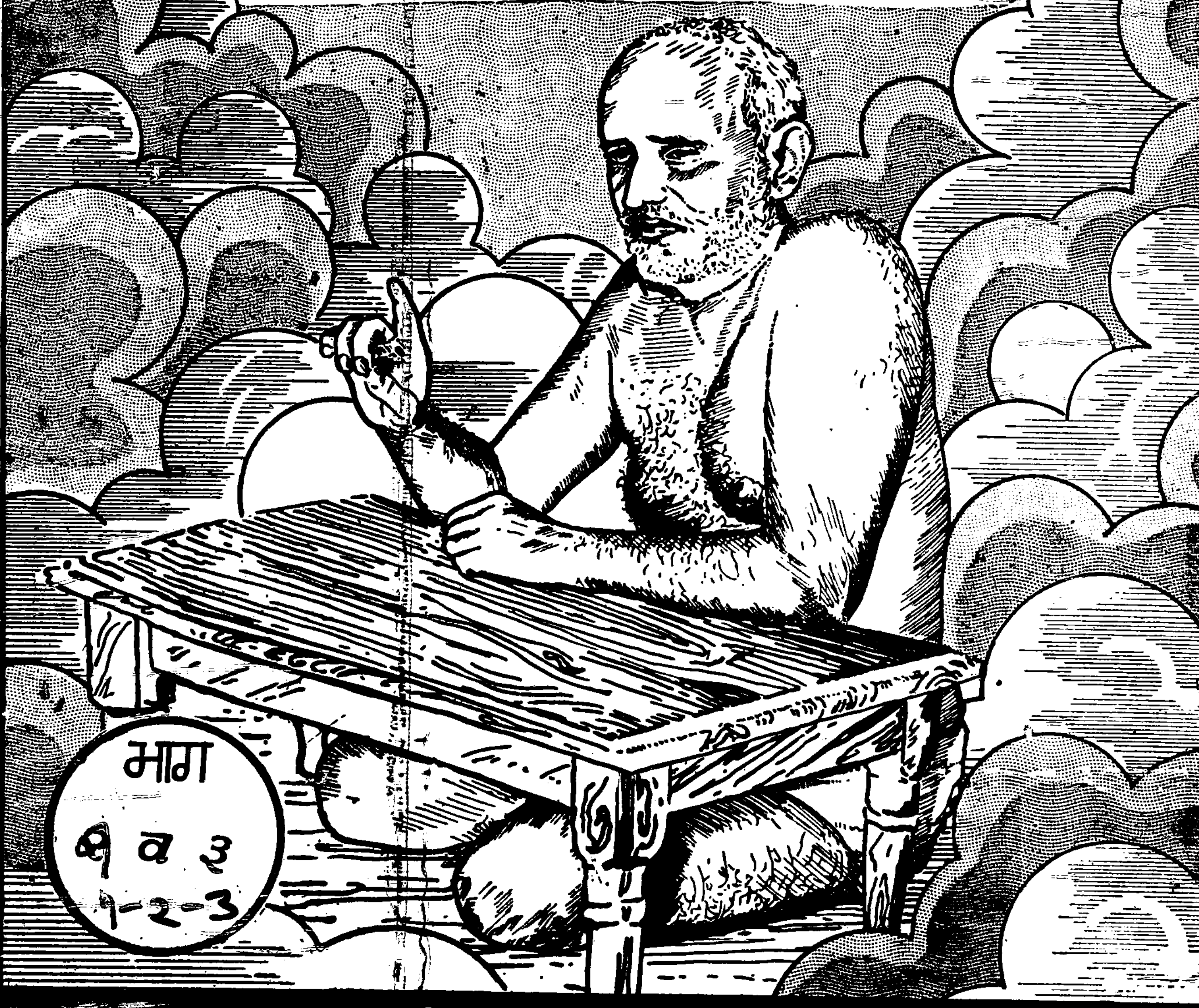

भाग
१ व ३
1-2-3

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर - मेरठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

शांतमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूं स्वतंत्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अंतर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।। १ ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान,अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान
किंतु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।। २।।

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।। ३ ।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।। ४ ।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।। ५ ।।

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुषार्थसिद्धयुपाय प्रवचन

(प्रथम, द्वितीय, तृतीय भाग)

श्री दि जैन ... मल्हारगंज इन्दौर

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक :—

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उत्तर प्रदेश)

द्वितीय संस्करण १०००

सन् १९८९

लागत मात्र मूल्य २० रुपये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पुरुषार्थसिध्द्युपाय प्रवचन द्वितीय भाग

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।
नित्यमपि निष्प्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

सम्यग्दृष्टि तत्वज्ञानी संतोंको सम्यक्चारित्रके आलम्बनका उपदेश— जिनपुरुषोंने दर्शन मोहको नष्ट कर दिया है और सम्यग्ज्ञानके द्वारा तत्त्वार्थ का अवरोध कर लिया है उन्हें बड़े निष्प्रकम्प होकर धारण सहित सम्यक्चारित्रका आलम्बन करना चाहिये। इसमें सर्वप्रथम यह बताया है कि जिसने दर्शन मोहको गला डाला उनको, जब तक पदार्थकी स्वतन्त्रताका भान न हो, समस्त पदार्थोंसे निराले निज अन्तस्तत्त्व का जब तक परिचय न हो तब तक वास्तवमें सम्यक्चारित्र नहीं बनता, क्योंकि चारित्र नाम है अपने स्वभावका। अपने स्वभावका पता न हो तो रमे कहां ? जो बाह्यमें सम्यक्चारित्र कहे जाते हैं वे साधक हैं, ५ समिति, ३ गुप्ति, ५ महाव्रत श्रावकोंके लिए अणुव्रत आदि ये सम्यक्चारित्र नाम इस लिये पाते हैं कि निश्चय चारित्रमें साधक हैं, अन्यथा शुद्ध खानपान, देखभालकर चलना, जीवदया पालना किसी की चीज न उठाना ये तो बातें होती हैं। अन्तरङ्ग सम्यक् चारित्र तो निज स्वभावको जानकर उसमें रमण करना है, ये सब साधन किसलिये होते हैं इसे समझना है तो इससे उल्टी बात सोचें। कोई मनुष्य दया नहीं पालता, दूसरे जीवोंको सताता तो ऐसे चित्तमें स्वभावधारणा नहीं बन सकती है, जो शल्यरहित हो, सत्यव्यवहार करता हो, न्याययुक्त जीवन हो ऐसे आचरण वालोंमें उस स्वभाव के धारण करने की योग्यता रहती है, अतएव ये सब आचरण साधक हैं। वास्तवमें सम्यक्चारित्र तो आत्मस्वभावमें रमण करनेका नाम है। यह बात तब बन सकती है जब दर्शन मोह गल गया हो। जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया और जिसने ७ तत्त्वोंका श्रद्धान यथार्थ अवधारण किया वह पुरुष सम्यक्चारित्रको ग्रहण करता है, ये ३ शब्द ऐसे हैं देखना, जानना और प्रयोग करना। लौकिक कामोंमें भी ये ३ बातें आती हैं, कोई भी काम करने जावें। यह मोक्षमार्गका प्रकरण है, इस कारण यहां देखनेका नाम श्रद्धान है। अन्तस्तत्त्वका विश्वास होना और स्पष्ट बोध होना और उस अन्तस्तत्त्वमें उपयोग जमाना, यही है रत्नत्रय और मोक्षका मार्ग। अब वह अन्तस्तत्त्व इस ज्ञानीके उपयोगमें यों बसता है कि यह ध्रुव है बिना कारणके है, किसी चीज से उत्पन्न नहीं होता और न यह किसी वस्तुको उत्पन्न करता है। जिसके आचरणमें परिणमन नाना होते हैं फिर भी किसी परिणमनरूप नहीं बनता, ऐसा जो एक चैतन्यस्वभाव है वह अन्तस्तत्त्व, चैतन्यमात्र मैं हूं, इस प्रकारकी वह प्रतीति करता है और ऐसी दृष्टि जमाने का ही यत्न रखता है, अब ऐसा उपयोग बन जाय किसीका या जितने क्षण बने, स्वयं कुछ थोड़ा बहुत यत्न करके अनुभव बना करे तो इस अनुभूतिके प्रसारसे क्लेश दूर होते हैं और आत्मीय आनन्द प्रकट होता है। क्योंकि क्लेश तब होते हैं जब परपदार्थोंमें उपयोग हो। जब परपदार्थोंमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि होती है तब क्षोभ उत्पन्न होता है, इसलिये परके उपयोगमें आत्माको कष्ट है और जब स्वयंका स्वयंमें सत्य सहज अंतस्तत्त्वका परिचय हो, उपयोग हो तो उसमें कोई बिगाड़ नहीं रहता। ऐसी निर्विकल्परूप, अनुभूतिरूप आत्मस्वभावका उपयोग करना, यही है निश्चयदृष्टि से चारित्र।

(पृष्ठ ६४ का शेष)

अनिह्नवाचार है। जैसे कोई शेखी बगराने वाले लोग कहते हैं कि हमने तो ऐसे ही अमुक चीज पढ़ पढ़कर ऐसा अध्ययन बनाया है। ऐसा कोई शास्त्रका या गुरुका नाम छिपा लेना सो अनिह्नवाचार है। संगीत सीखने वाले लोग ऐसा बहुत करते हैं। किसी हारमोनियम बजाने वाले से पूछो कि साहब तुमने किससे हारमोनियम बजाना सीख लिया तो वह कहता है कि हमने तो यों ही अंगुलियां रख रखकर हारमोनियम बजाना सीख लिया है। वह अपने गुरुका नाम छिपा लेता है। इस प्रकार से अपने गुरु अथवा शास्त्रका नाम छिपाना, सो अनिह्नवाचार है। इस प्रकार से ८ अंगोंपूर्वक सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिये।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन प्रथम भाग समाप्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सद्वृत्ति और स्वानुभूतिका परस्पर सहयोग—अब देख लीजिए कि कैसा परस्पर संयोग है कि अपने को शान्तवृत्तिमें रखें तो अनुभव जगे और अनुभव जगे तो शांतिवृत्ति बढ़े। इसमें एकान्तसे हम किसे कारण बतायें? शान्ति से अनुभूति होती है या अनुभूतिसे शांति होती है—इन दोनोंमें एकान्ततः हम किसे पहिले रखें? कुछ मन्द कषाय होकर जो शान्ति मिलती है वह तो बहुत, चाहे तब अनुभूति जगे। और अनुभूति जगने से फिर उस शांति से वृद्धि बनती है और शान्ति ही एक चारित्रका रूप है। तो अनुभव करनेके लिये सदाचरण होना बहुत आवश्यक है। जो पुरुष किसी प्रकार अच्छे ढंगसे व्रत और नियमसे रहते हैं उनकी यह वृत्ति स्वानुभूतिका साधक है, केवल एक ज्ञान कर लेने मात्रसे, तत्त्वकी चर्चा कर लेने मात्रसे अनुभूति नहीं जगती, क्योंकि उसमें हमारा चित्त रमे, उपयोग ग्रहण करे, चित्त शांत हो तो आत्माकी अनुभूति जगती है। चित्तमें शांति तब हो सकती जब हमारी अनाचाररूपवृत्ति न हो, अभक्ष्य भक्षण की प्रवृत्ति न हो। ज्ञान तो हो गया कि मद्य माँसमें जीवकी हिंसा है ऐसा ज्ञान होकर जो पुरुष उसकी प्रवृत्ति करता है तो उसके चित्तमें क्रूरता है और क्रूर चित्त आत्मानुभव कर नहीं सकता और जिसके ज्ञान ही नहीं कि मांस भक्षणमें दोष है, इसमें जीव हिंसा है, उसके तो जीवकी पहिचान ही नहीं है, आत्मानुभव तो उसके जगेगा ही क्या? जब मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्यका त्याग नहीं होता उसके सम्यक्त्व नहीं होता। जब तक बाह्य आचरण ठीक न हो तब तक आत्मानुभूतिकी पात्रता ही नहीं है, इस कारण ऐसा ही ख्याल करना चाहिये कि हमें केवल सम्यक्त्व पैदा करना है, आचरण पीछे सुधारेंगे। अरे विशिष्ट आचरण तो बादमें सुधरेगा पर साधारण आचरण तो पहिले चाहिये। क्योंकि सम्यक्त्व आत्मानुभूतिके साथ उत्पन्न होता है। बादमें सम्यक्त्व बना रहे और आत्मानुभूति न बने यह तो सम्भव है क्योंकि आत्मानुभवका नाम है—आत्माका उपयोग रखना। सम्यग्दृष्टि निरन्तर आत्माका उपयोग रखता हो ऐसी बात नहीं है। गृहस्थजन दुकान पर जाते, आजीविका का साधन बनाते, परिवार का पालन पोषण करते, अनेक घटनाओंमें सुधार बिगाड़ का यत्न रखते, पर पदार्थोंका उपयोग चलता रहता है पर सम्यक्त्व बना रहता है। सम्यक्त्वकी उत्पत्ति स्वके उपयोग बिना नहीं हो सकती, स्वानुभूति पूर्वक ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अपनी उस अनुभूतिको जगानेके लिये हमारा पहिले से आचरण विशुद्ध हो तो कार्य बनता है। आचरण गन्दा है तो हममें यह योग्यता नहीं है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर सकें। जिसे सम्यग्दर्शन होता है और भले प्रकार तत्त्वार्थका परिज्ञान है उस पुरुषको सदाकाल दृढ़ चित्त पूर्वक विशिष्ट उत्साह सहित सम्यक्चारित्रका आलम्बन लेना चाहिये। जैसे कोई पुरुष मार्ग चलता है तो रास्ता जैसे-जैसे व्यतीत होता है वैसे ही वैसे उसका उत्साह बढ़ता जाता है ऐसे ही सम्यक्चारित्र के मार्गमें उत्साह बढ़ बढ़कर यह ज्ञानी पुरुष बढ़ता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें वह स्थान है जिस स्थानपर उसे अपना उपयोग जमाना है और अपने अन्तःपुरुषार्थसे वह उस ओर बढ़ रहा है और उसे स्पष्ट विदित हो रहा है कि यह अंतस्तत्त्व है। कुछ और निकट पहुंचता है तो अपने उपयोगको अपने अंतस्तत्त्वमें पहुंचाता है। तो उत्साहपूर्वक उस मार्ग में बढ़ना है, ऐसे उत्साहसहित दृढ़ चित्त होकर सम्यग्ज्ञानी पुरुषको सम्यकचारित्रका आलम्बन लेना चाहिये।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात ॥३८॥

अज्ञानपूर्वक चारित्रमें समीचीनताका अभाव—जो अज्ञानपूर्वक चारित्र है वह सम्यक् नाम नहीं पाता। चारित्र संयम आदि धारण कर रहा तो उसका सम्यक नहीं है, चारित्र सही चारित्र नहीं है, सही संयम नहीं, इसी कारणसे सम्यग्ज्ञानके पश्चात् चारित्रका आराधन बताया। पहले सम्यग्दर्शनकी आराधना, फिर सम्यग्ज्ञान की आराधना, फिर सम्यक्चारित्रकी आराधनाका जो क्रमसे प्रतिपादन है। उसका तथ्य यह है कि सर्व प्रथम सम्यक्त्व चाहिये। सम्यक्त्व के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं है। किसी भी काममें यदि विश्वास नहीं है तो उस कामको पूरा कर नहीं सकता। रसोई लोग बनाते हैं तो पूरा विश्वास है कि इस तरह से बनाया जाता है और बन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाता है। आटेसे रोटी बन जाती है और विश्वास भी होता। कहीं ऐसा तो नहीं कि कभी यह ख्याल करें कि आज कहो धूलसे रोटी बने। तो सबसे पहिले विश्वासकी आराधना बताया है और सम्यक्त्वके होते ही जो ज्ञान था वह सम्यक् बन जाता है। सो सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके साथ ही होता किन्तु सम्यग्दर्शन है कारण और सम्यग्ज्ञान है कार्य। जैसे दीपक जब जलाया जाता तो दीपकका जलना और प्रकाश होना ये दोनों एक साथ होते हैं। फिर भी दीपक तो कारण है और प्रकाश कार्य है इसी तरह सम्यक्त्वके होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है लेकिन ज्ञान सम्यग्ज्ञान क्यों हो गया। उसका कारण यह बताया जायेगा कि सम्यग्दर्शन हो गया। इस कारण ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है। तो सम्यक्त्व कारण है, इससे सम्यक्त्वकी आराधना पहिले है। सम्यग्ज्ञान कार्य है तो सम्यग्ज्ञानकी आराधना इसके बाद बताया है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान न हो तो चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं होता। वे दोनों कारण हैं सम्यक्चारित्र होने में। अतः सम्यक्चारित्रकी आराधना पीछे बताया है। तो सम्यग्ज्ञान न होवे और कोई पुरुष पांच पापोंका त्याग करे, गुप्ति समिति महाव्रत जो भी संयम बताये हैं उनका भार धारण करे तो भी वह चारित्र भार है, सम्यक्चारित्र नहीं है, क्योंकि करना क्या था, अपना उपयोग अपने आत्मामें मग्न हो जाय, मोक्षमार्गमें इतना ही काम करनेका है किन्तु जहां ज्ञान नहीं है अपना, तो मग्न होवे कहां? जब आत्माका भान ही न हो तो उपयोग जमेगा कहां? जब उपयोग आत्मामें जम नहीं सका तो जो चारित्रपालन है वह भार है। जरा-जरा सी बात पर क्रोध आता, अहंकार बसा रहता, मैं मुनि हूं तपस्वी हूं, इस प्रकारके भाव उठते।

पर्यायबुद्धि में चारित्रकी भाररूपता—जिसको यह भान हो गया कि मैं एक विशुद्ध ज्ञानानन्दका पिण्ड हूं, जिसका कोई नाम नहीं और अगर नाम धर दे तो वही नाम सबका है। यदि एक ही नाम सबका हो तो फिर नामकी किसे पड़े? आत्माका तो कोई नाम ही नहीं है और नाम कोई रखा जाए तो वह नाम सब आत्माओंका एक समान है। जब सब एक नाम वाले हैं अर्थात नामरहित हैं तो ऐसा ज्ञान करने वाले जो पुरुष हैं वह विषय कषायोंके जाल में नहीं फंसते और दूसरों से किसी भी प्रकारकी शंका और आशा नहीं रखते। पर जिन्हें आत्माका बोध नहीं है उनका चारित्र तो भार है अर्थात् अंतङ्गमें तृप्ति न जगे और चारित्र व्रत कार्य पालनका खेद अनुभव करे तो वह चारित्र भार है। जैसे बिना जाने कोई औषधिका सेवन करे तो उसका मरण सम्भव है। इसी तरह बिना ज्ञानके चारित्रका सेवन करे तो संसार की वृद्धि होना सम्भव है। मान लो कभी कुछ पुण्य कार्य भी बन गया तो उसका पुण्य कार्य कितना? देव गतिमें उत्पन्न हो जाय फिर आगे रहा क्या? रहा तो संसार में ही। जब तक इस शरीरमें जीव है तब तक नाक, आंख, कान ये सब कार्य करते हैं और जब जीव निकल गया तो ठीक वह सब ढांचा है मुर्दा में। वही नाक आंख कान वे ही सब हेर फेरके साथ, पर वे सब इन्द्रियां बेकार हैं। देखो मनुष्योंका या किसी भी जीवका प्रेम है किससे? परिवारसे मित्रसे जिससे भी प्रेम किया जा रहा है यह तो पूछो कि यह प्रेम किससे किया जा रहा है? जीवसे किया जा रहा है या शरीर से किया जा रहा है। जीव से तो किया नहीं जा रहा क्योंकि जीव अमूर्त है। केवल ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र है। उस चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि है कहां? जीवको लक्ष्यमें रखकर कोई प्रेम नहीं जता रहा और शरीरसे प्रेम करता कौन? जीव निकल जाता तो शरीर तो वही है, मरने के बाद यही पड़ती है कि इसे जल्दी यहां से उठा ले जायें। घरके लोग भले ही मुर्दाको रोकते हैं, अरे न ले जावो और पंच लोग अगर यह कह दें कि अच्छा धरा रहने दो यहीं, हम लोग जाते हैं तब फिर वे ही घरके लोग हाथ जोड़कर कहते हैं कि अच्छा भाई इसे जल्दी यहांसे ले जावो। जीवके निकल जानेके बाद मृतक शरीर से कोई प्रीति नहीं करता। न कोई जीवसे प्रेम करता, न कोई शरीर से प्रेम करता। बात तो यह है कि आत्मामें राग का उदय आया, उस उदयकी प्रेरणामें इससे नहीं रहा जाता और राग करता हैं तो जिसका सही ज्ञान है उसकी प्रवृत्ति तो सही रहती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तो चारित्र सम्यक्चारित्र है अन्यथा सम्यक्-चारित्र नाम नहीं हो सकता।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ।।३९।।

निष्पाप निष्कषाय आत्मस्वरूपकी चारित्ररूपता—चारित्र तो सर्वप्रकारकी पाप प्रवृत्तियोंको दूर करने से होता है। पाप पांच प्रकारके हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। पांच पापों का योग दूर हो तो चारित्र होता है। तो जहां चारित्र है वहां पांच पापोंकी प्रवृत्ति नहीं है। और सभी प्रकारकी कषायें नहीं हैं। जितने अंशमें कषायें दूर हैं उतने अंशमें चारित्र समझिये। चारित्र कषाय रहित होता है और वह स्पष्ट है, आत्मा का सहज स्वरूप है। आत्मा ज्ञानमात्र है, आत्मा सर्वप्रदेशोंमें मात्र जाननका काम करता रहता है। ज्ञानमय ऐसा ज्ञानस्वरूप अपने आपका अनुभवन करना और स्थिरतासे उसमें ही उपयोग बनाये रहना यह जो चारित्र है वह आत्माका स्वरूप है। आत्माको धर्म करने के लिये बाहरसे कोई चीज लानी नहीं पड़ती। कोई कहता कि मेरे पास पैसा नहीं है, धर्म कैसे करूं, यात्रा कैसे करूं, यात्रा न कर सका तो धर्म कहां से हो? धर्मके लिये पैसे की अटक नहीं। धर्म के लिये तो सम्यक्त्व चाहिये, सम्यग्ज्ञान चाहिये और सम्यक्चारित्र चाहिये। ये जहां हो वही धर्मपालन है। लेकिन जब ऐसे धर्म का पालन नहीं हो पाता अपने आपमें अपने को तृप्ति नहीं जग पायी तो ऐसी स्थिति में भाव क्या होता है? यात्रा के, और भी बन्दना आदिक करता है यह जीव, पर धर्म के लिये तो सम्यक्त्व की अटक है। सम्यक्त्व न हो तो धर्म नहीं है पर पैसों की अटक नहीं। कोई कहे मेरे पास कोई दूसरा साथी नहीं है, मैं धर्म कैसे करूं? तो धर्मपालन करने के लिये क्या साथी की या नौकर की आवश्यकता है? वह तो अपने उपयोग के स्वाधीन बात है। जब दृष्टिपात किया अपने सहज स्वरूपपर और मेरी स्वरूपमें मग्नता जगे तो धर्म पालन हो गया। धर्म कहो, चारित्र कहो, समतापरिणाम कहो, कषायरहित आत्मा कहो सबका एक अर्थ है। चारित्र होता है समस्त सावद्य योगों के परिहार से। चारित्र होता है सर्वप्रकार के कषायों के अभाव से। चारित्र एक उत्कृष्ट चीज है और वह आत्मा का स्वरूप है। तो उस सम्यक्चारित्रकी बात इस प्रकरण में कही जा रही है जहां मोह और क्षोभ नहीं है। क्षोभ का अर्थ है रागद्वेष। जहां मोह रागद्वेष नहीं हैं, वहां चारित्र है। और यह चारित्र निर्मल उदासीन आत्मा का स्वरूप है।

चारित्रकी निष्कषायताका विवरण—समस्त कषायकोंका अभाव होने से यथाख्यात चरित्र होता है, इससे पहले भी चारित्र नाम है। जब छठवें गुणस्थानमें मुनि है, उसके यथाख्यात चरित्र तो नहीं है फिर भी चारित्रवान् होता है। लेकिन यहां संज्वलन कषायका उदय है तो वहां वास्तव में सम्यक् चारित्र नाम नहीं बना परिपूर्ण दृष्टि से। जैसे वास्तवमें तो औपशमिक चारित्र होता है ११ वें गुणस्थान में लेकिन ८वें गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानते हैं तो कारण यह है कि यहां कषायके उपशमनका का विधान शुरू करदिया है ऐसा औपशमिक ८वेंगुणस्थान में बताया है। वास्तवमें चारित्र है यथाख्यात जहां वीतराग अवस्था है वहां है वास्तविक चारित्र, लेकिन उससे पहिले भी उस ही चारित्रका ध्यान करके साधना की जा रही हो तो उसे भी सम्यक्चारित्र कहते हैं। स्वभाव चारित्र है कि नहीं? एक प्रसंग के निकट की यह चर्चा है। जिस समय यह जीव सामायिक छेदोपस्थापना आदिक चारित्रोंमें है। उस समय उसकी ओर उपयोग है वह विशुद्ध परिणामसे बढ़ा हुआ है और विद्धशुता मंदकषयका नाम है। जितने अंशमें कषाय मन्द है उतने अंश में इसका चारित्र बढ़ा है। स्वभाव चारित्रका नाम पा रहा। चारित्र का नाम है रागद्वेष मोहरहित निर्विकार शुद्ध चैतन्यका, शुद्धपरिणामका, किन्तु उसके नीचे उसही के अर्थ जो प्रक्रिया बनायी जा रही है वह भी सम्यक्चारित्र नाम पाती है। देव, शास्त्र, गुरु, शील, तप, व्रत, संयम आदिक में जो अंतरङ्ग प्रवृत्ति होती है वह तो मंद कषाय ही है। जब विषयोंमें प्रवृत्ति होती है तब में और जब व्रत आदिमें प्रवृत्ति होती है तबमें अन्तर है। विषय कषाय आदि में प्रवृत्ति वाला राग मंदराग वाला नहीं है पर दान, पूजा व्रत शील आदिकी इच्छा हो तो यह मंद कषाय है। तो दान पूजा आदिक प्रवृतिमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक प्रवृति नहीं है। करे वह अगर,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो दान नहीं है। कोई बुरे मार्गमें ही रहे और कषाय में आकर दान दे तो क्या वह दान हो गया ? जो विशुद्ध भावसहित दान है उसमें क्रोध का नाम नहीं है, कोई अहंकार सहित दान दे तो उसने पैसा भी लुटाया और धर्म भी न हुआ। तो जो दान पूजा तप आदिक शुभ राग की परिणतियां हैं उनमें क्रोध, मान, माया, कषायें तो हैं नहीं। है जरा प्रीतिकी अपेक्षा लोभ। धर्मात्माओं में प्रीति है। दुःखीजनोंमें प्रीति है तो वह संसार का प्रयोजन लिये हुए नहीं है। दान पूजा करनेमें जो रागभाव आता है वह संसारका प्रयोजन लिए हुए नहीं है।

लक्ष्य और लक्ष्यप्रगतिमें प्रवर्तन—लक्ष्य हमारा विशुद्ध है और जिस लक्ष्य के लिए हम बढ़ते हैं ? उस मार्गमें देव शास्त्र गुरुका प्रकरण और प्रसंग आता है। कोई सा भी काम आप करें, आपको तीन बातें आवश्यक होंगी। एक आदर्शरूप काम में जो हो उसका ख्याल रहेगा और उस कामको बनाने वाली वचन विधि भी काम आयेगी और मौके पर निकट जो समझदार पुरुष मिले जिससे सीखा जाय तो वह गुरु भी काम आयेगा। तो जब मोक्ष मार्ग में हम चल रहे हैं संसारके संकटोंसे सर्वथा छूटने का उपाय रच रहे हैं तो हमें सही मायनेमें देव शास्त्र गुरुका परिचय करना चाहिये और उसकी उपासना में लगना चाहिये। देव वह है जो निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो और जिसके राग लगा है और इसी कारण वह सब जान नहीं पाता और न पदार्थों को ही जान सकता वह जीव देव नहीं है। अरहंत सिद्ध प्रभु आदिमें निःशंक रुचि रखना और उसके स्वरूपका विचारकर अपने आपमें उस स्वरूपका अनुभवन करना यह तो देवपूजा है। इसमें राग जरूर है पर राग अच्छे की ओर है बुरे की ओर नहीं है। यह पद्धति है जैन शासनमें कि पहिले तो अशुभपयोग छूटता है, शुभोपयोग रहता है और साथ ही यह भी जानें कि चाहे हम अव्रती हों, चाहे अणुव्रती हों, महाव्रती हों, सर्वत्र लक्ष्य हमारा एक विशुद्ध होना चाहिए। यद्यपि परिस्थिति ऐसी नहीं है कि गृहस्थ अपने आत्माके धर्मकी दृष्टि बहुत देर तक निभा सके और जिसने गृहका परित्याग कर दिया, मोह ममता नहीं रही वह इसमें बढ़ता है, पर लक्ष्य सबका एक है। चाहे अणुव्रती श्रावक हो, चाहे महाव्रती हो, लक्ष्य एक है। हम आगे बढ़ें अर्थात् आत्मा के चैतन्यरसका स्वाद लें यही लक्ष्य है सबका, पर परिस्थिति ऐसी है कि गृहस्थ सब कामों में लग नहीं पाता। जो साधुजन हैं वे ही इस शुद्धोपयोगके अधिकारी हैं। तो ज्ञानी पुरुषके जो कि देवपूजा, बंदना, स्तवन, दान, संयम, व्रत आदिक पाल रहा है उसकी मंद कषायें हैं, विषय कषायों में लगे हुए मनुष्यों की तरह अटपट नहीं है। तो इन शुभोपयोगके कार्योंको करके धर्ममय तो है नहीं पर कुछ रागरूप लोभ है। ज्ञानी पुरुष रागभाव से प्रेरित होकर शुभमार्गमें लगा है, किन्तु इस राग से हमें मुक्ति मिलेगी ऐसी श्रद्धा नहीं कर रहा है। भगवान्‌का पूजन करता है मगर भगवान्‌का ऐसा पूजन करते हुए उसका ऐसा भाव है कि मैं अशुभ राग को छोड़कर रहूं इसके लिये यह पूजन किया है। इस ज्ञानी के अशुभ राग नहीं है। अशुभ रागका तीव्र बन्ध होता है। न्याययुक्त व्यवहार होना चाहिये, अन्याययुक्त व्यवहार रखते हुए मान लो तीर्थयात्रा ही कर रहे हो तो वह यात्रा सफल यात्रा नहीं है। अन्याय सहित कुछ भी धर्मकार्य किया जाता हो तो वह सफल कर्तव्य नहीं है। यदि ज्ञानी जीव राग से प्रेरित लगा तो है। दान आदिक कार्यों में, पर उस शुभ राग को उपादेय है ऐसी श्रद्धा नहीं करता, बल्कि अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्र की मुख्यताका ही कारण है यों जानता है। जब तक यह शुभ राग भी रहेगा तब तक शुद्धोपयोगका विकास नहीं है। यह है कि उसके चित्त में। क्योंकि कोई वश नहीं है, जब राग का उदय जगा तो राग तो उठा ही। अब इस राग को हम किस जगह पटकें, इसका विवेक तो होना चाहिये। जिन विषयों में, भोगोंमें कामोंमें रागको पटक दिया तो अहित ही है। सावधानी भी न रही। सम्यक्त्वके उल्टे चल बैठे। यदि इस शुभ रागको दान पूजा आदिक कार्यों में लगा दिया जाय तो इसे आत्महितका मार्ग मिलता है। सावधानी मिल सकती है तो ज्ञानी जीव शुभ राग करता है, पर उसे उपादान रूप से श्रद्धा नहीं करता। उसे भी चरित्र कह सकते हैं, क्योंकि वहां तीव्र कषाय नहीं है। इस अपेक्षासे हमशुभोपयोगको भी चारित्र कह सकते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हिंसातोऽनृतवचनास्तेयादब्रह्मत: परिग्रहत: ।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

चारित्रकी निष्पत्तिका विधान—चारित्र कैसे उत्पन्न होता है, किसका नाम चारित्र है ? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन ५ पापों से विरत होने का नाम चारित्र है। जिसमें पापरहित चैतन्यस्वभाव मात्र आत्मतत्त्वकी श्रद्धा जगी है वह तो अपने इस स्वरूपमें ही लीन होने का यत्न करेगा तो ५ पापों से जब विरक्ति होती है तो शुद्धोपयोगमें रुचि होती है और वह चारित्र है, और वह चारित्र दो तरहका है—एक साधुओंका चारित्र और एक गृहस्थों का चारित्र। देखिये धर्म मार्ग वर्तमान में दो हैं—साधुमार्ग और गृहस्थमार्ग। न्यायसे गृहस्थधर्मका कोई पालन करे तो समझो कि वह बहुत-बहुत अपना कर्तव्य निभा रहा है। गृहस्थ धर्म भी कोई साधारण धर्म नहीं है, इसमें भी दम है पर न्याय नीतिका व्यवहार रहे तब। तो अन्यायरूप प्रवृत्ति न होने से गृहस्थधर्म भी चारित्र है। अर्थात् यह चारित्र दो प्रकारका हो गया। ५ पापों का सर्वथा त्याग करना यह तो है सकल चारित्र और ५ पापों को एक देशविरत होना वह एक देश है फिर भी बहु देश है क्योंकि संकल्पी हिंसाका जहां त्याग हो चुका है तो परिणामोंमें क्रूरता न बसने के कारण वह चारित्र ही है। भले ही अणु व्रत रूप प्रवृत्ति है तो भी उसमें ५ पापोंसे विरक्तता है। क्रोध, मान, माया, लोभमें मदता है। तो गृहस्थधर्म भी एक चरित्र है, पर उसे निभाया जाय दृढ़ श्रद्धानपूर्वक। चारित्र दो प्रकार का है एक तो पापोंका स्थूल से त्याग करना और दूसरा सर्वथा पापोंसे विरक्त होना याने सूक्ष्म भी पाप न कर सके, यों तो चारित्र दो प्रकारका कहा गया। हिंसा आदिकके पूर्ण त्याग को सकल चारित्र कहते हैं और इन ५ पापोंके एक देश त्याग को विकल चारित्र कहते हैं। कुछ अपने आत्मा को जानें, उसका उपययोग बनाएं और उस ही रूप हम अपने को निरखते रहें यही मोक्ष मार्ग है और इससे ही हमारे संसार के संकट दूर होते हैं।

निरत: कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यति: समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

यति और उपासककी विरति के भेदसे चारित्रकी द्विविधता—जो ५ पापों का सर्वथा त्याग करता है, सर्व प्रकार से पापों के त्याग में लवलीन है वह मुनि तो समयसारभूत है। समयसारभूत का अर्थ है शुद्धोपयोगमें आचरण करने वाला और जो ५ पापोंसे एकदेशविरत है, एकदेश निवृत्तिमें जो लगा हुआ है वह उपासक होता है। साक्षात् मोक्षमार्ग तो मुनिका है और उपासक मुनिकी वृत्ति करना चाहता है, उसका उपासक है। श्रावक अर्थात् श्रावक मुनिधर्म का उपासक है तो उपासक तो परम्परा से मोक्षमार्गी है और साधु जो खुद समय-सारभूत है वह स्पष्ट साक्षात् मोक्षमार्गी है। इन ५ पापों के त्यागमें आत्माके परिणामोंकी विशुद्धि बनती है वह सब प्रतिपादन होगा। वास्तव में तो आत्मा के स्वभावसे चिगकर किसी परतत्त्वमें उपयोगको फंसाना वह सब पाप है, उस पापका त्याग करता है, अथवा उत्तम अन्तरात्मध्यानी साधु पुरुष वह साक्षात् समयसारभूत शुद्धोपयोग को निरखता है उसमें वह व्यावृत है और वह वंदनीय है, अपने आपका नि:संदेह उद्धार करने वाला है तो इसमें बताया कि चारित्र दो प्रकार के हैं—एक सकलचारित्र और दूसरा वंश चारित्र। सकलचारित्रका स्वामी मुनि है और देशचारित्रका स्वामी श्रावक है।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

पञ्चपापों में हिंसारूपता—आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घात होनेके हेतुसे यह सब कुछ हिंसा ही है याने हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह जो ये ५ हैं इन सबका काम क्या है ? आत्मा में परिणामोंकी हिंसा करना, आत्माके स्वभाव का घात करना। इसलिये ये सब हिंसा है। हिंसा तो हिंसा ही है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह भी हिंसा हैं। फिर ये जो भेद किये गये हैं चार और झूठ चोरी कुशील परिग्रह ये शिष्योंको समझाने के लिए उदाहरणरूप कहे गए हैं। किसी का दिल दुखाना उसमें हिंसा है, किसीकी निन्दा करना उसमें हिंसा है, किसीकी चीज चुराना, कुशील होना तथा परिग्रह होना इनमें हिंसा है। हिंसा है सो ही अधर्म है और अहिंसा है सो ही धर्म है। ये सब हिंसा क्यों कहलाते कि इन सभी पापोंसे आत्माके शुद्धपरिणामों का घात होता है। आत्मा का शुद्ध परिणाम है ज्ञाताद्रष्टा रहना, विशुद्ध ज्ञानरूप रहना, सो नहीं रह पाता है इन ५ प्रकार के पापों के कारण। सो ये पांचों पाप हिंसा ही हैं। तो हिंसा वास्तव में जीव अपनी ही कर सकता है दूसरे की नहीं, क्योंकि प्रत्येक जीव जो कुछ परिणमन कर सकता अपना ही कर सकता। तो वास्तविक मायने में जहां किसी दूसरे का दिल दुःखाया वहां अपनी हिंसा की, इसी प्रकार झूठ बोलनेमें तथा चोरी आदि करनेमें अपने स्वभावके विरुद्ध जो प्रवृत्ति हुई वह सब हिंसा है, ये तो पांचों पाप ही हिंसा हैं, केवल समझाने के लिए बताये हैं।

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

द्रव्यहिंसा व भावहिंसा दोनोंमें कषाययोग का आधार होनेसे हिंसारूपता—निश्चयसे तो कषाय और योग से द्रव्यप्राण और भावप्राणका घात करना सो ही हिंसा है। अब जितने काम कर रहे हैं सबमें देखे तो हिंसा ही हिंसा बस रही है। अपना ही धन है और रक्षा कर रहे हैं तो हिंसा कर रहे हैं क्योंकि अपने स्वभावसे च्युत हैं। यद्यपि सरकारसे भी तय है कि यह घर धन कुटुम्ब इनका है, तो कोई बहुत ही आराममें रह रहा, किसी का दिल भी नहीं दुःखा रहा, अपने घर में आमदनी घर बैठे की है, सब कुछ है, कोई सोचे कि मैं झूठ नहीं बोलता, न किसी का दिल दुखाता तो मुझे पाप न होता होगा, ऐसी बात नहीं है। बड़े आराममें भी है, स्वभावसे च्युत हो गया तो हिंसा है। अपना जो स्वरूप है उससे गिर गये उसमें हिंसा हुई। अब किसी का दिल दुःखे या न दुःखे, हम बहुत अच्छे ढंग से रहते हैं तिस पर भी किसी दूसरे का दिल दुःखे तो हिंसा तो न होगी? हमारा परिणाम खोटा हो या परिणाम विषयोंका हो, ममता बढ़ाने का हो तो उसमें अपना ही परिणाम खोटा हुआ और हिंसा हुई। हिंसा अपनी हुआ करती है, खोटी वृत्तिकी तो अपनी हिंसा हो गई। पर जो एक रूढ़िमें किसी दूसरेका दिल दुःखाया तो हिंसा हुई तो उसमें यह मर्म है कि इस जीवने दूसरेके प्राणों घात हो, ऐसा भाव हुआ सो ऐसी परिणति हुई कि दूसरेके प्राण पीड़े गये। तो कार्य को देखकर कारणका उपचार किया जाता है तो कार्यका कारण में उपचार है, यही हिंसा है। अपना परिणाम दुःख जाय, अपने में विषय कषायोंका भाव आये तो वह सब हिंसा है। कोई अज्ञानी जीव अपना परिणाम नहीं दुःखाता, मौज मानता, मस्त रहता तो भी हिंसा है क्योंकि वह अपने स्वरूप से तो चिग हो गया है, बाह्य पदार्थोंमें लग गया इसलिए वह सब हिंसा कहलाती है। जिस पुरुष के मनमें वचनमें अथवा कार्यमें क्रोधादि कषायें प्रकट होती हैं उस प्राणीका घात तो पहिले ही हो गया। जब कषायें उत्पन्न हो गई, भाव प्राणका व्यपरोपण हो गया। कषायोंकी तीव्रता से अपने अंगको कष्ट पहुंचा, अपना आत्मघात करले तो वहां भी उसने अपने द्रव्य प्राणका घात किया। फिर उसके कहे मर्मभेदी खोटे वचन आदिक ने जिसपर लक्ष्य किया था उसके अतरङ्ग में पीड़ा हुई तो उसके भाव प्राण का विपरोपण है यह तीसरी हिंसा है। अन्त में प्रमाद से किसीको पीड़ा पहुंची तो वह परद्रव्य प्राण व्यपरोपण है। सारांश यह है कि कषाय से अपने और दूसरे चैतन्य प्राणका घात बने तो वह सब हिंसा होता है। यहां तक हिंसाकी बात चार ढंगोंमें रखी है। पहिले अतरङ्ग की बात कहेंगे फिर बहिरङ्गकी बात। तो वास्तव में हिंसा है, अपने प्राणों का घात किया और स्वरूप का व्यपरोपण किया सो है वास्तव में हिंसा और फिर उस कषाय की तीव्रतासे उसने ही द्रव्यप्राणोंका घात किया या कोई तकलीफ पहुंचे तो यह सब उसकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

द्रव्य हिंसा है। इन दोनों हिंसावोंमें अपने आपकी हिंसा बतायी है। चार तरह की हिंसा बताई। प्रथम तो अपने चैतन्यस्वरूपका घात किया सो हिंसा है, फिर कषायोंकी तीव्रतासे खुदके द्रव्य प्राणको पीड़ा सो द्रव्य प्राण की हिंसा है। फिर दूसरा पुरुष जिसको लक्ष्य में लिया, जिसके प्रति कुवचन किया उसका दिल दुखा और उसके चैतन्यस्वरूपका घात हुआ सो तीसरी हिंसा हुई और चौथीमें ही दूसरे पुरुष को जिसे लक्ष्य लिया है उसके द्रव्य प्राण पीड़े गये और कोई अपने विषयमें सुनकर आत्मघात करले तो वह है द्रव्यहिंसा। यों हिंसा ४ प्रकार की है, पर मूलमें सारांश यह है कि अपने और दूसरे के भाव प्राण ही द्रव्यप्राण हैं। द्रव्यप्राण की हिंसा महान् हिंसा है। हिंसा न रहे तो निर्विकारता आये।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीणां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

हिंसा और अहिंसाका—हिंसाका स्वरूप क्या है और अहिंसा का स्वरूप क्या है? उसका विश्लेषण इस गाथामें है। वास्तवमें रागादिक भाव उत्पन्न न हों तो यह अहिंसा कहलाती है। अपनेमें राग द्वेष मोह भाव न जगे तो क्या स्थिति होगी? निर्विकार केवल ज्ञातद्रष्टाकी स्थिति बनेगी। वही तो अहिंसा है। रागादिक भाव न उत्पन्न हों उसको अहिंसा कहते हैं और रागादिक भाव उत्पन्न हो जायें तो उसे हिंसा कहते हैं। अब वह रागभाव चाहे सूक्ष्मपने से जगें तो भी हिंसा है। सूक्ष्मपनेसे जगने पर स्वरूप से तो च्युत ही हुआ। इस कारण वह हिंसा कहलायी। लोग कहते हैं कि हमने इसकी हिंसा करदी, पर कोई किसी दूसरे की हिंसा नहीं करता, खुदकी करता है। जैसे कोई जलते हुए कोयलेका अंगार हाथ में लेकर किसी दूसरे को मारता है तो चाहे जिसे मारा है वह न जले, पर मारने वाला जरूर जल जाता है। तो अपने चैतन्यस्वरूपका घात करना इसका नाम हिंसा है। यह जिनेन्द्रभगवानके आगमका संक्षेप है। इस लक्षण से शुभोपयोगका परिणाम जगा वहां भी रागभाव मिला है तो वह भी हिंसा हो गई। एक निर्विकल्प अंतस्तत्त्वका उपयोग है सो तो अहिंसा है और बाकी जितने भी विकृत-परिणाम हैं वे सब हिंसा कहलाते हैं।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

योग्याचरणी संत पुरुषोंके हिंसाका अभाव—निश्चयसे योग्य आचरण करने वाले संतपुरुषके रागादिक भाव नहीं होते और कभी प्राणका व्यपरोपण हो जाय तो हिंसा नहीं लगती। जैसे कोई साधुपुरुष ईर्यासमिति पूर्वक देखकर चल रहा हो और कोई छोटा जीव पैर के नीचे दबकर मर जाय तो भी हिंसा नहीं है क्योंकि उस साधु का हिंसा करने का परिणाम न था। वह तो ईर्यासमिति पूर्वक चल रहा था। आत्मा के परिणाम में जब कोई प्रमाद न हो तो वहां हिंसा नहीं लगती क्योंकि परके प्राणोंके व्यपरोपण मात्रसे हिंसा नहीं लगती, किन्तु दूसरे के प्राण चले जायें, इस प्रसंग में जिसने संकल्प किया तो संकल्प करने वाले को हिंसा लगी। किसी सज्जन पुरुष के द्वारा सावधानी पूर्वक गमन बन रहा हो तो उसमें भी शरीरके सम्बन्ध से पीड़ा होना जाना सम्भव है लेकिन हिंसा का दोष नहीं लगता। अपने सारे शरीर में सूक्ष्म कीटाणु बहुत हैं तो अब बतलाओ कि जैसे बैठते हैं तो वजन पड़ता है तो उसमें जीवों का घात हुआ कि नहीं, जो उस शरीर में जीव थे। हमारे बैठने से हमारा शरीर ही तो दबा। तो वहां उस जीवको पीड़ा हुई कि नहीं? जैसे एक पैर रखा तो पैर में जो कीटाणु हैं उनको बाधा होती कि नहीं होती। यदि यों मानते जायें तो कोई मनुष्य कभी मोक्ष ही नहीं जा सकता। शरीर का वजन शरीर में पड़ा उसमें भी हिंसा है, फिर मुक्तिका क्या साधन है? उसकी हिंसा नहीं हुई, शरीर में किसी क्षण यदि उसके माफिक व्यवहार भी चल रहा है लेकिन ज्ञानी पुरुषका इसमें फंसाव नहीं होता, इसी कारणसे हिंसा नहीं होती।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ।।४६।।

रागग्रस्त जीवोंके सर्वत्र हिंसात्मक दोष—रागादिक भावों के वशमें प्रवृत्तिरूप आचरण में प्रमाद अवस्था में जीव मरे अथवा न मरे परन्तु हिंसा ही होती है। अपना परिणाम सावधानीका न हो, जीव दयाका भाव न हो तो उस समय इस जीवकी प्रवृत्तिसे परजीव मरें चाहे न मरें पर सबसे हिंसा होती है। तो अपनी ही गल्ती से हिंसा होती अहिंसा होती है तो अपने ही सुधारसे। किसी जीवका प्राण नष्ट हो गया तो भी प्रमाद नहीं है तो हिंसा नहीं है। प्रमादी जीव कषायके वशीभूत होकर गमन आदिक क्रियायें यत्नपूर्वक नहीं करता। जैसे क्रोध में आकर यहां से भागे तो चूंकि क्रोध है, ढंगसे सो वह समितिपूर्वक न जायेगा, ऊपर यहां वहां सिर उठाकर जायेगा। गमन आदिक क्रियायें यत्नपूर्वक न करे तो चाहे किसी दूसरे प्राणीका दिल उसके चलनेसे दुखे अथवा नहीं, पर उसने तो हिंसा कर ली। और पुद्गल द्रव्योंको लपेटने की इसके वाञ्छा जगी है, तो वह प्रमादी है, जीव मरें अथवा न मरें, ऐसा सोचनेसे चूंकि वह अपने मन में रागभाव लाया है तो अवश्य हिंसा है, क्योंकि हिंसा कषाय भाव से उत्पन्न होती है। दूसरे के प्राण न भी पीड़ें पर खुदका यदि गंदा विचार हुआ तो हिंसा हुई। इसी प्रकार सब जीवों की बात तभी तो जिसके परिणाम हिंसारूप हुए, चाहे वह परिणाम हिंसाका काम न भी कर सके तो भी वह समझिये।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ।।४७।।

हिंसक जीवके आत्मघातकी निश्चितता—चूंकि जीवकषाय सहित होता हुआ सबसे पहिले अपने ही द्वारा अपने ही आत्मा को घातता है। जब कषाय जगी तब इसका स्वरूप दब गया तो इसको हिंसा हो गई। हिंसा शब्द का अर्थ घात करना है, प्राण का व्यपरोपण करना है लेकिन आत्मस्वरूप की खबर लें, अपने आपके उस सहज चैतन्यस्वरूप को दृष्टि में लें तो यहां हिंसा न होगी। हिंसा शब्द का अर्थ घात करना है, पर वह घात करना दो तरह से होता है। एक तो अपने भावों का घात। अपना जो शुद्धस्वभाव है, चैतन्यस्वरूप है उसका घात हुआ और फिर अपने शरीरमें जो इन्द्रियां हैं निमित्त तो वह हैं और उन इन्द्रियों का घात है। इस कारण यह मानें कि जहां आत्मघात नहीं ऐसा शुद्ध स्वच्छ जो ज्ञानोपयोगका का कार्य है सो अहिंसा है। ऐसे खोटे परिणाम से अपने आपका घात तो तुरन्त होता है, दूसरे का आयुकर्म विशेष है, न हो सके उसका घात पर परिणामसे पहिले खुदमें हिंसाका पाप तो लग ही गया। जो हिंसा से बचना चाहता हो उसे यत्न करना चाहिए कि मेरेमें दुर्भाव न पैदा हों।

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ।।४८।।

हिंसाका अत्याग व हिंसापरिणमन दोनों स्थितियोंमें हिंसाका दोष—अब देखिये हिंसासे विरक्त न हो इसका भी नाम हिंसा है और हिंसाकी प्रवृत्ति करे इसका नाम भी हिंसा है, क्योंकि जिसने हिंसाका परित्याग नहीं किया उसके भी प्रमत्त योग है जिसने ममताका परिणाम किया उसके भी हिंसाका योग है। माने हिंसा दो तरह की होती है—एक अविरतरूप हिंसा, दूसरी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि परतत्त्वोंसे विरक्ति न हो तो वह भी हिंसा है और हिंसा कर बैठे, दूसरे को सता बैठे तो वह है प्रवृत्तिरूप हिंसा। जीव की परघातमें प्रवृत्ति न हो रही हो, फिर भी हिंसा के त्यागकी प्रतिज्ञा नहीं है तो हिंसा हुआ करती है। एक छोटी सी कथा है कि एक सर्पने एक नियम बना लिया कि मुझे कोई कितना ही सताये पर मैं शान्त रहूँगा। तो घर में एक बच्चा दूध पी रहा था तो वह सांप गया बच्चे के पास बैठकर खूब छककर दूध पी लिया। ऐसा ही वह हर रोज कर लेता था। वह बच्चा थप्पड़ मारे तो भी वह सांप चुप रह जाय। कुछ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही दिनों में वह सांप पुष्ट हो गया। दूसरे सांप ने एक दिन पूछा कि भाई तुम कहां से रोज दूध पी लेते हो? उसने अपनी बात बतायी। उस दूसरे सांप ने सोचा कि हम भी ऐसा ही करेंगे। दूसरा सांप भी घर जाये और बच्चेका दूध पी आये। बच्चा थप्पड़ मारे फिर भी वह शान्त रहे। सांप ने यह नियम बना लिया कि १०० थप्पड़ तक तो मैं कुछ न बोलूंगा, इसके बादके थप्पड़ मैं न सह सकूंगा। एक दिन वह दूसरा सांप उस बच्चे का दूध पीने पहुंच गया। दूध पीने लगा। उस बच्चे ने थप्पड़ मारना शुरू किया। पहिले तो वह सांप थप्पड़ बराबर सहता रहा, लेकिन जब १०० वें थप्पड़ के बाद मारा तो झट उस सांप ने उस बच्चे को काट लिया। बच्चा चिल्लाया बड़े जोर से। लोग इकट्ठे हुए और उन्होंने उस सांपको मार डाला। तो उस सांप को शान्तिकी पूरी प्रतिज्ञा न थी सो यह विडम्बना हुई। ऐसे समझिये कि जो लोग हिंसा का त्याग करते हैं। उनमें बहुतोंका यही हाल रहता है। बहुतसे लोग प्रायः रात्रि भोजन नहीं करते पर वह त्याग पूर्ण प्रतिज्ञारूप न होनेके कारण रात्रि को भोजन कर लेते हैं। यह उनकी पूर्ण प्रतिज्ञा न होने की कमजोरी है। यदि संस्कार में मजबूती नहीं है तो वहां हिंसा है। हिंसा का त्याग न करना, हिंसासे विरक्त न होना, वह भी हिंसा है और अहिंसामें प्रवृत्ति करे सो भी हिंसा है, क्योंकि दोनों जगह प्रीति योग लगा हुआ है, कषाय और योग दोनों जगह लगे हुए हैं अतएव निरन्तर प्राण घातका सद्भाव है, हिंसा दो तरह की है—एक अविरतिरूप हिंसा और दूसरी प्रवृत्ति रूप हिंसा। कोई पूछे कि क्रिया तो हमने की नहीं, केवल एक भाव बना लिया उसमें क्या हिंसा हुई? तो उत्तर दे रहे हैं कि जिस पुरुष के हिंसा का त्याग नहीं है वह किसी समय भी हिंसा कर सकता है। जैसे किसी ने रात्रि भोजनका त्याग नहीं किया किया तो वह किसी किसी प्रसंग में रात्रि भोजन कर सकता है। इस रात्रि भोजन में भी हिंसा है। तो ऐसे ही जिसने हिंसाका त्याग नहीं किया वह बाह्य में हिंसा न करते हुए भी अन्तरङ्ग हिंसा कर सकता है। यह हिंसाका प्रकरण चल रहा है कि हिंसा का त्याग न हो तो हिंसामें चाहे प्रवृत्ति की हो अथवा न की हो, प्रमाद कषाय योग ये सब मौजूद हैं इस कारण खोटे भाव होने के कारण हिंसा ही है। मेरी प्रवृत्ति करने से दूसरे जीव पर क्या गुजरती है, उससे हिंसा और अहिंसा का निर्णय नहीं है। होता है ऐसा कि अपना परिणाम खोटा है तब ही दूसरों का दिल दुखाते हैं, पर हिंसा होती है अपने स्वरूपका घात करने से। तब समझना चाहिए कि हम विषयोंमें फंसे रहे तो हमारी हिंसा है। हमारी शुद्धदृष्टि बने तो हम हिंसासे बच सकते हैं।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

हिंसाकी आत्मापराधजता—छोटी से छोटी भी हिंसा हो वह भी परवस्तुके कारण नहीं होती, किन्तु खुदमें रागद्वेष भाव उपजे तो हिंसा होती है। याने किसी जीवने अपने दिल को दुखा पाया है, उस वजह से हमें हिंसा लग जाये सो क्यों? हमने दूसरों का दुःख विचारा, इस कारण हिंसा है दूसरों के कारण हिंसा नहीं होती या किसी ने किसीको पीट दिया, मार दिया तो वह पिट गया या मारा गया इससे हिंसा नहीं है किन्तु हमने जो बुरा भाव किया उससे हिंसा हुई। रागद्वेष के भाव उपजें तो उससे हिंसा होती है। इस कारण से परिणामों में निर्मलता के लिए हिंसाके साधनोंका त्याग करना चाहिये। यद्यपि परवस्तुओं के कारण हिंसा नहीं होती लेकिन फिर भी अपना परिणाम निर्मल रहे इस वजह से बाह्य साधनों का त्याग कर दें। जैसे मुक्ति अपने परिणाम से होती है। अपना परिणाम निर्मल रहे, केवल एक अद्वैत आत्मस्वभावको ग्रहण करे और उससे आत्मा को मुक्ति होती है। घर छोड़नेसे मुक्ति नहीं होती, परिग्रह छोड़ने से मुक्ति नहीं होती फिर भी अपने परिणामों की निर्मलता के लिये घर द्वार परिग्रह छोड़ना पड़ता है तब परिणाम हमारा विशुद्ध हो पाता है। तो इस गाथा में यह बात बताई कि जैसे जिस माताका कोई सुभट पुत्र हो उसीको यह कहा जाता कि मैं वीर जननीपुत्रको मारूंगा। यह तो कोई नहीं कहता कि बंध्याजननीके पुत्र को मैं मारूंगा। जैसे कोई हंसी मजाक में दवा बताने लगते हैं कि धुआं

Report any errors at vikashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की कोपल ले लो आसमानकी छाल लो तो यह भी कुछ है क्या ? याने जो चीज है ही नहीं उसके बारेमें भाव होता ही नहीं, जो चीज है उसके बारेमें परिणाम होता है। तो ऐसा परिग्रह अगर साथ है तो उसके आलम्बन से कषायों की उत्पत्ति होगी और जब परिग्रह से सम्बन्ध ही नहीं तो कषायों की उत्पत्ति भी न होगी। इसलिये परिग्रह का त्याग, बाह्य साधनों का त्याग करना चाहिये। फिर भी यह रहस्य जान लें कि बाह्य चीज देखनेसे धर्म नहीं होता। धर्म होता है अपने आपमें जो बसा हुआ जो भगवान है, परमात्मा है उसको पहिचान लें। उसके आलम्बन से धर्म-पालन के लिए बाहरी साधन जुटाना चाहिए जिससे हमारा परिणाम विरुद्ध न जाय।

निश्चयमबुद्धयमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरण लसो बालः ॥५०॥

निश्चयस्वरूपके अपरिचयमें अन्तर्बाह्य आचरणका विनाश—निश्चयसे हिंसा अपने परिणामोसे ही ही है। अपना जो खोटा परिणाम है उससे हिंसा हुई। बाहरमें दूसरे जीवको पीट दिया तो उससे हिंसा नहीं हुई, अगर परिणाम खोटा न करता तो काहेको वह मारता पिटता। वह तो भला है मगर परिणाम खोटा हुआ उससे हिंसा हुई। आप देखें कि जिसके ममता बसी है वह रात दिन अपनी हिंसा कर रहा है। जिस पुरुषके मोह लगा है, ममता बसी है उसके रात दिन हिंसा हो रही है। अपने आत्मा की हिंसा है, अपने परमात्मा भगवानको दबाया जा रहा है। मोहके द्वारा इसकी प्रगति नहीं हो सकती। आत्मामें जो कषायभाव उत्पन्न होता है उसमे आत्मा की हिंसा है। जिससे अपनी हिंसा इष्ट नहीं है उसे चाहिये कि वह कषायें न करे। विषय कषाय और मोह ये तीन चीजें दुख-दायी हैं, तो हर जगह देख लो जब भी कोई दुख होता हो तो यह समझलें कि दूसरे के कारण हमें दुःख नहीं होता है किन्तु इसमें विषयकषाय या मोह भाव होता है उससे दुःख होता है। भगवानमें और अपनेमें कोई अन्तर है क्या ? चीज तो एक है। आत्मा आत्मा एक है, जो आत्मा प्रभुका है वही आत्मा अपना है। स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। प्रभु वितराग हो गए इसी कारण सर्वज्ञ हो गए और यहां रागद्वेष मोह विषय कषाय बसे हुए हैं, परिचय बताया है, लोगोंमें हमारी इज्जत न खराब हो, नाम बढ़े, लोग हमें अच्छा कहें ये व्यर्थकी बातें जो खुद की हैं इनसे भगवान परमात्माका घात हो रहा है। तो विषय कषाय और मोह, इन तीनके कारण अपनी बरबादी है, जीव समझता तो यह है कि हम बड़े अच्छे हैं, लड़के अच्छे है, धन वैभव खूब है, बड़ा आराम है। पर इस परिणाममें रहनेसे अपने आपका घात हो रहा है, कोई एक इस ही भवसे नहीं पूरा पड़ता है। यह तो मरके भी जायेगा, तो आगेकी भी सोचना चाहिए। राजा भी मरकर कीड़ा बन जाता है, देव भी मर कर एकेन्द्रिय हो जाता है तब फिर इतने मौज से क्या सार निकलेगा ? समझना चाहिये कि हममें रागादिक भाव आयें तो उसका नाम हिंसा है और रागभाव न आये तो यह अहिंसा है। सो रागभावके न आने का यत्न होना चाहिये। जितना हमारा बाह्य समागम बढ़ेगा उतना अपने को संक्लेश मिलेगा। तो निश्चयसे हिंसा क्या है ? आत्मामें मोह विषय कषायके परिणाम जगें उसका नाम हिंसा है, जीव मर गया उसका नाम हिंसा नहीं है, पर अन्दरमें जो मोह पड़ा है, विषय है, ममता है वह हिंसा है, तभी तो जीव को मारा, किसी जीवको सताया तो यह राग रहा, मोह रहा, प्रमाद रहा तब जीव सताया गया। परिणाम गन्दा हुआ उससे हिंसा लगी। परिणाम विशुद्ध रखें तो इस जीवका भव सुधरे। तो जो जीव यथार्थ निश्चय में स्वरूपको नहीं जानता और व्यवहार को ही निश्चयरूपसे अंगीकार करता है वह अज्ञानी जीव है। जैसे हिंसा तो हुई रागभाव करनेसे, दुःख तो हुआ दूसरेसे राग रखने का और माना यह कि इसने मुझे दुःखी किया तो यह मिथ्या परिणाम हुआ। किसी जीवका कोई दूसरा न घात कर सकता, न बिगाड़ कर सकता। तो जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूपको न जानकर व्यवहारको ही निश्चय रूपसे श्रद्धान करता है वह मूढ़ है और फिर भी बाह्य क्रियाओं में आलसी है, बाह्य क्रियावोंके आचरणको नष्ट करता है और कोई पुरुष यह कहे कि मेरा परिणाम अन्तरङ्गमें स्वच्छ होना चाहिये, बाह्य परिग्रह रखें या कोई आचरण करें उससे मुझमें दोष नहीं आ सकता सो यह पुरुष अहिंसाके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आचरणको नष्ट करता है क्योंकि जब बाहरी पदार्थ मौजूद है तो उसका निमित्त पाकर अतरंगमें परिणाम विशुद्ध नहीं होगा। अपने निश्चयधर्मकी रक्षा के लिये बाह्य चरणानुयोगको भी पालें। हिंसा और अहिंसाका यह मर्म जैन शास्त्रों में बताया है कि अपने परिणामोंमें अज्ञान आये, रागद्वेष भाव आये तो उससे हिंसा होती है और अपने परिणामोंमें निर्मलता जगे तो उससे अहिंसा होती है।

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाऽप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

आशयके कारण हिंसा न करके भी हिंसाके फलका भोक्तृत्व—निश्चयसे देखो कोई जीव हिंसाको तो नहीं करता और हिंसाके फलको भोगता है। जैसे किसी जीवने दूसरे मनुष्यको मारनेका इरादा किया किन्तु वह उसे मार न सका तो हिंसाका बंध तो हो गया, थोड़े ही समयमें उसे उस हिंसा का फल भी भोगने को मिल जायेगा। यहां बतला रहे हैं कि सारी बात परिणाम में है। अपने परिणाममें दूसरे को मारनेकी बात आये तो जिस समय बात आयी उस समय हिंसासे कर्म बन्ध गया और मानलो २-३ वर्ष बाद उदय आ जायेगा तो दो तीन वर्ष बाद भोग लेगा क्योंकि कर्म बन्धता है भावोंसे। तो वहां यह बात बतला रहे कि अपने खोटे परिणाम होनेसे हिंसा होती है। जब १०-१२ वर्ष बाद और मारनेके भाव करेगा तो दूसरा कर्म बन्धेगा। तो यह तो है दूसरे के मारनेकी बात। पर जो मनमें यह बात बनी रहती है कि मैं ऐसा धनिक बनूंगा, यों वैभव भोगूंगा, यों सुख भोगूंगा ऐसी कोई कल्पना करे तो उसमें भी हिंसा है। दूसरेके मारनेका इरादा करे उसमें भी हिंसा है और अपने सुखके पुलावा बांधे तो वह भी हिंसा है, क्योंकि आत्माका जो स्वरूप है, स्वभाव है चैतन्यमात्र उसका तो घात कर दिया। ईर्ष्या करे उसमें भी हिंसा है और किसी से राग करे, स्नेह बढ़ाये उसमें भी हिंसा है दूसरेकी हिंसा नहीं बल्कि ऐसे ही दूसरेसे स्नेह किया तो उसमें भी अपनी हिंसा हुई। तो यह हिंसाकी बात अनादिकालसे चालू है और अनादिकालसे पहिलेके बन्धे हुए कर्म जिस समय उदयमें आते हैं उस समय परिणाम खराब होते हैं। अब परिणाम खराब हुए तो इस जीवनमें और नयी हिंसा और कर्मका बंध कर लिया तो उससे यह परम्परा चल रही है तो इससे हमें छूटना है। जितनी हमारे पास सुबुद्धि है उतनेका भी उपयोग न करके जैसा हमारा ज्ञान है उसका हम और जगह तो उपयोग करते हैं पर एक वस्तु-स्वरूपके जाननेमें उपयोग नहीं करते। तो केवल एक मुख बदलना है। क्षयोपशम हम आपका काफी अधिक है, अब उसको बदलें और आत्माकी ओर उपयोग ले जायें तो उससे हित हो सकता है। कितने बड़े बड़े व्यापारी लोग है कितने-कितने लेन देन, कैसी कैसी समस्याओं का हल करना, कितना क्षयोपशम है, उस ज्ञानको हम बाह्य पदार्थोंके परिणमन में तो लगाते हैं पर अपने आपके चिन्तनमें नहीं लगाते। थोड़ा मुख मोड़ना है तो वह परम्परा हमारी टूट जायेगी। तो यहां यह बतला रहे हैं कि हिंसा लगती हैं अपने परिणामोंसे जीव हिंसाका फल भोगेगा।

आशयवश हिंसा करके भी हिंसाके फलकी अभाजनता—जिस जीवके शरीरसे किसी कारण हिंसा तो हो गयी पर आत्मामें हिंसारूप नहीं आया तो हिंसा करनेका वह भागी भी नहीं हैं, जैसे साधु बड़ी समता के पुञ्ज होते हैं, समितिपूर्वक चल रहे हैं, कदाचित कोई छोटा जीव पैरके नीचे दबकर मर जाय तो चूंकि रंच भी उनके प्रमाद नहीं है इस कारण हिंसाका दोष उनके नहीं लगता। साधुका स्वरूप बहुत उत्कृष्ट होता है। साधु जहाँ कहीं हों उनके कारण वातावरण अशान्त नहीं होता है। अगर किसी साधुके रहने पर वातावरण अशान्त हो जाये, उसके कारण उसके व्यवहारसे विषमता आ जाय तो वह साधुता क्या? साधु पुरुष और अरहंत भगवान् जहां बिराजे हों वहांसे चारों तरफ ४०० कोश तक दुर्भिक्ष नहीं पड़ता और जहां साधु हो वहां अशान्त वातावरण नहीं होता, क्योंकि वह साधु समताके पुञ्ज हैं, रागद्वेष भाव उनमें अत्यन्त मंद है, किसी के पक्षकी बात नहीं, किन्तु आत्माकी धुनमें लगना यह साधुका स्वरूप है। ज्ञान ध्यान और तप ये तीन चीजें साधु में हैं। मुख्य तो ज्ञान है। वह ज्ञानोपयोगी रहे, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहे। जब ऐसी स्थिति न हो सके तो ध्यान करें, ध्यान बनायें और जब ध्यान भी न बन सके तो अपनी तपस्यामें लग जायें। साधु के तीन ही नाम हैं ज्ञान, ध्यान और तप। तो साधुता बड़ी उत्कृष्ट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चीज है। साधुके गुणोंका स्मरण करना यही साधुकी उपासना है। तो जब परिणामोंका कोई परिणमन निर्मल चलता है तो उस समय देव शास्त्र गुरुके प्रति प्रीति जगती है। यदि विषय कषायके परिणाम तीव्र हो रहे हों तो देव शास्त्र गुरुकी ओर रुचि नहीं जगती, सबसे बड़ी विपदा इस निज परमात्मापर है तो मोह विषय और कषाय परिणामों की है।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥

परिणामवश अल्प हिंसाका महान् फल तथा महाहिंसा का स्वल्प फल—चूंकि अपने रागादिक विषय कषाय आदिक परिणामोंसे अपनी हिंसा होती है इस कारण कोई पुरुष बाह्य हिंसा तो थोड़ी कर सका परन्तु अपने परिणामोंमें हिंसाका भाव अधिक लगाता है तो तीव्र कर्मका बन्ध होता है और उस पुरुषको उसका फल भोगना पड़ता है। कर सके कोई थोड़ी हिंसा पर परिणाममें महाहिंसाका दोष है तो उसका भी फल भोगना पड़ता है। कोई जीव परिणामोंमें उतना हिंसा परिणाम नहीं रख रहा पर बाह्यमें हिंसा बहुत हो जाये तो उसे थोड़े कर्मोंका बन्ध होता है, बाह्यमें हिंसा अधिक हो जाने पर भी यदि परिणामों में हिंसाकी बात अधिक नहीं है, अल्प है तो उसे कर्मफल अल्प भोगने पड़ते हैं। अभी कोई छोटा आदमी किसी बड़े आदमीका मुकाबला करता है तो उस छोटे आदमीको संक्लेश बहुत करना पड़ता है तब वह बादमें एक आध थप्पड़ लगाता है और बड़े आदमीको जरा भी गुस्सा आये तो फटाकसे मार देता है, तो उस बड़ेको थप्पड़ लगानेमें कम हिंसा हुई और उस छोटेको चूंकि बड़ा संक्लेश करना पड़ा तो हिंसा अधिक लगी। कोई पुरुष थोड़ी हिंसा कर पाता है, पर परिणामोंमें बड़ा संक्लेश है तो उसे हिंसा अधिक लगती है और किसी पुरुषसे बड़ी हिंसा हो जाती है, पर परिणाम संक्लेशमयी नहीं हैं तो उसे कम हिंसा लगती है। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि हिंसा परिणामोंके कारण लगती है परवस्तुके कारण नहीं लगती।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

एक साथ की जाने वाली हिंसामें भी हिंसकोंमें तीव्र मन्द फलकी भाजनता—चूंकि परिणामोंसे ही हिंसा मानी गयी है इस कारण यह भी एक विचित्रता हो जाती है। दो पुरुषोंने मिलकर कोई हिंसाका काम किया, पर परिणाम उनके उनमें हुए। कषायोंकी तीव्रताके अनुसार, उन्हें फल जुदा-जुदा मिलेगा। दो आदमी मिलकर किसी एक आदमी का दिल दुखायें तो बाहरमें तो एक सा ही काम हुआ पर उन दोनोंमें जिसके परिणाम अधिक क्रूर होंगे उसको हिंसा विशेष लगेगी। उसे आगे फल अधिक भोगना होगा और चित्त में ज्यादा क्रूरता नहीं है तो हिंसा कम लगेगी। तो इससे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका जैसा परिणाम है उसको वैसा फल मिलता है।

प्रागेव फलति हिंसाऽक्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

आशयवश अकृत व कृत हिंसाके फलका पूर्व, तत्काल व पश्चात् भोग—और भी देखिये विचित्रता किसी ने हिंसा करने का विचार तो किया कि मैं अमुक पुरुष को मार डालूं परन्तु अवसर न मिला तो हिंसा नहीं कर सका तो मैं अमुकको मारूं ऐसा परिणाम करते समय ही उसके हिंसा का दोष लग गया, कर्म बन्ध गया और थोड़े ही समय बाद कर्मका फल भी भोग लेगा। बाद में वह हिंसा कर सका तो हिंसाका परिणाम करनेसे कहो हिंसा करने से पहिले ही उसका फल मिल जाय। इसी प्रकार किसी ने हिंसा करने का विचार किया और उस विचारसे कर्म बन्ध गया। अब कर्मका फल उदयमें आया तब तक वह हिंसा न कर सका तो उसने हिंसा करते ही समय फल भोग लिया। मतलब यह कि जो परिणाम गन्दा रखेगा उसके आत्माका घात है, उसका उत्थान नहीं और संसारके संकटोंसे वह घिर जायेगा। तो परिणामोंमें प्रथम तो मोह न आये, मोहसे महाघात है। पता ही नहीं कि यह दूसरा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कौन है और मैं कौन हूं। अपने स्वरूप का भान ही नहीं है, तो जहां अपने स्वरूपका भान नहीं वहां विषय कषायों का बन्ध लद जाता है, जहां दुःखी होता है व्यर्थके संकल्प विकल्प करता है, इसका है कोई नहीं, पर मान रहा है कि यह मेरा है। यों अपने मनमें अन्य जीवोंके प्रति प्रीति जगती है। देखो मोह हटाना तो एक सीधी सी बात है। केवल सही-सही ज्ञान कर लिया फिर मोह नहीं रह सकता। सभी जीव जुदे-जुदे कर्मफल भोगते हैं, सभी अपने-अपने उदयके अनुसार अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सभी का काम अपना-अपना न्यारा-न्यारा है। ऐसा जब निरखते हैं तो वहां मोह नहीं रहता। इतना भी जो निरीक्षण न कर सके उसके तो महामोह है ही। तो सबसे अधिक पाप है मोह का, उसके बाद विषयका। इन्द्रियके विषयोंको भोगने की लालसा रखना। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें सिनेमा देखे बिना चैन नहीं पड़ती। विषयके साधनोंमें प्रीति होना, इससे अपनेमें बसे हुए परमात्मा का घात होता है। पहिला परिणाम मोह है, दूसरा परिणाम है विषय। अब देखो कि विषयोंके परिणामसे किसी दूसरे का कुछ घात नहीं किया। हम अपनी इन्द्रिय पोस रहे हैं। हम ही अपने आप बढ़िया दवा पीकर मौज मान रहे हैं मगर उस मौज में आत्मा की भी तो कुछ सुध रहे। अपने चैतन्यस्वरूपका घात हुआ इसलिये सुखमें मौजमें विषयमें हिंसा है। दूसरी है कषाय की चीज। क्रोध बढ़े, घमण्ड जगे, मायाचार हो, पैसोंका लोभ हो तो इन कषायों से भी आत्मा का घात है। मोह विषय और कषाय—इन तीनों से अपने परमात्मास्वरूपकी हिंसा होती है इस कारण ये परिणाम न जगे तो समझिये कि हमने धर्म पाला और ये परिणाम जग रहें तो समझिये कि हम अपनी हिंसा करते चले जा रहे हैं।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥५५॥

आशयवश एककृतहिंसाके अनेकों की फलभागिता व अनेककृतहिंसाके एककी फलभागिता—देखो एक पुरुष तो हिंसा करता है परन्तु फल भोगते हैं बहुत। किसी ने सांप मारा तो मारा एकने और देखने वाले पचासों लोग खुश हुए तो उन पचासों को उसका फल भोगना पड़ेगा और हिंसा करते हैं बहुत लोग मिलकर लेकिन फल भोगता एक। जैसे राजा ने सेनाको आर्डर दिया तो सेना ने हजारों लोगों को मार डाला पर उसका फल भोगा एक राजा ने।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥५६॥

आशयवश हिंसासे हिंसाफलके परिणाममें भेद—चूंकि हिंसा परिणामसे ही होती है, दूसरे पदार्थसे नहीं होती तो यह हिंसा का फल परिणाम पर लगाया जायेगा। किसी पुरुषको तो हिंसाके उदयकालमें एक ही हिंसा के फलको देता है और किसी पुरुष को वही हिंसा बहुत हिंसाके फलको देता है। किसीका परिणाम तो भला है और यत्न भी अच्छा कर रहा है और हो जाय किसीकी हिंसा तो उससे हिंसा का फल नहीं है। जैसे कोई मक्खी या मकड़ी पानी या घी वगैरह में पड़ जाय और दया करके हम निकाल रहे हैं, कदाचित् वह मर भी जाय तो उसमें हिंसा का दोष नहीं है क्योंकि परिणामकी बात है। परिणाममें उस समय हमारे हिंसा का भाव नहीं है और किसी की हिंसा हिंसाके फलको देती है। इसीको और खुलासा करते हैं।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७॥

हिंसा हो जाने पर भी आशयवश हिंसाफल व अहिंसाफलका अन्तर—किसी को हिंसा उदयकाल में हिंसा का फल देती है और किसी को हिंसा अहिंसका फल देती है। जैसे कोई जीव किसी का बुरा करनेका यत्न करता हो और पुण्यके उदयसे कदाचित बुरा होने की वजह से कदाचित भला हो जाय। हो जाय भला, मगर

Report any errors at vikashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसको तो हिंसाका फल मिल ही गया। जैसे प्रद्युम्नकुमार जो कृष्ण जी के पुत्र थे, कालसंवर के यहां पले थे, तो कालसंवरके कुटुम्बीजनोंने प्रद्युम्नकुमार को बार-बार मारा, पर सभी जगह उसे नये नये रत्नों की प्राप्ति हुई। नये-नये रत्न मिले। इससे यह बात न हो जायगी कि पिटने वालेका पुण्य ले जायेगा। धवल सेठने श्रीपाल को समुद्रमें गिरा दिया पर वह बाहर निकलने पर राजा बनता है। कोई पुरुष किसी का करना चाहता है बुरा और हो जाता है उसका भला और कोई किसीका करना चाहता है भला पर हो जाता है बुरा। जैसे डाक्टर रोगी का आपरेशन करता है तो भले के लिए करता है पर आपरेशनमें कदाचित् उस रोगीका मरण हो जाय तो डाक्टर हिंसक न माना जायेगा। यह सब बातें अतरङ्ग परिणामों पर निर्भर हैं। मां अपने बच्चे को डांटती है, मारती भी है, पर हिंसा नहीं लगती और कोई दूसरा पुरुष उस बच्चेको गुस्सा भरी आंख भी दिखा दे तो हिंसा लग जाती है। तो परिणामोंसे हिंसा और अहिंसा होती है। यह तो हुई दूसरों के सम्बन्ध की बात, पर कोई पुरुष अपनेमें अज्ञान भाव रखे, विषयकषायोंका परिणाम रखे तो उसके हिंसा है ही। दूसरे को सताया नहीं लेकिन अपने मन में तो हिंसा का परिणाम रख रहा, अपने विषयों के साधनों में लीन है, अपनी मौजमें आसक्त है तो उस जीव को उसकी हिंसा लगेगी और किसकी उसने हिंसा की ? अपने परमात्मस्वरूपकी हिंसा की। अपना जो स्वभाव है, स्वरूप है उस परमात्मतत्त्व की हिंसा की।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ।५८।।

गुरुकृपासे तत्त्वका यथार्थ बोध—इस प्रकार अत्यन्त कठिन यह नाना नयोंरूपी मनका गहन बन है। जैसे कोई महाभयंकर बन में प्रवेश कर जाय तो उसका बचना, निकलना बहुत कठिन है, इसी तरहसे यह नयोंके जो भंग हैं वह भयंकर बनकी तरह हैं। उसमें जो पुरुष मार्ग भूल जाते हैं उन पुरुषों को यदि कुछ शरण है तो ऐसे गुरु लोग ही शरण हैं जो अनेक प्रकारके नयसमूहोंको जानते हैं। वह नय दृष्टि बताकर उसको नयका विवरण कर देते हैं। वहां कोई सीधे सुने तो कहेगा कि यह क्या बात कह रहे हैं, कभी कहा कि जीव नित्य है कभी अनित्य तो सुनने वाले सोचेंगे कि यह तो स्थिर चित्त वाला नहीं है। तो उनको समझाने के लिये गुरुजन नयदृष्टि अगाकर बोलेगें, देखो द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है जो कभी अनन्तकाल तक नष्ट नहीं हो सकता, पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है, क्योंकि जीवका जो जो कुछ भी परिणमन होता है वह परिणमन अगले क्षण नहीं रहता, इसलिए परिणमनकी दृष्टिसे जीव अनित्य है, बदलता रहता और द्रव्यकी ओरसे देखें तो जीव कभी नहीं बदलता, जीव जीव ही रहता है। तो अनेक नय भंग हैं इस प्रकार हिंसाके प्रसंगमें भी आशयवश अनेक भङ्ग हो जाते हैं।

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ।।५९।।

नयचक्रके विपरीत प्रयोगसे अज्ञानियोंकी हानिभाजनता—जिनेन्द्र भगवानका यह नयचक्र अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला है जो कि अज्ञानी पुरुषों को शीघ्र ही काट डालता है अर्थात् अज्ञानीजन इस नय चक्र का सही भान नहीं कर पाते हैं तो वे संसारमें ही रुलते हैं, पर जिसको बोध है इस शासनमें वह नय चक्रका ठीक अर्थ लगाता है। जैसे जब कोई बात किसी हिंसाके सम्बन्ध में बहुत-बहुत बार आये, एक हिंसा करके अनेक लोग फल भोगें, सुनने वाले तो समझेंगे कि यह क्या कहा जा रहा है ? जिसने हिंसा की है फल तो वह भोगेगा, पर यहां यह समझना कि एक पुरुषको किसी ने मार डाला, उसकी तारीफ करने वाले अगर १० हैं तो दसों ही उसका फल भोगेंगे। क्योंकि भावहिंसा उन सबने की। उसका समर्थन किया तो हिंसा उन्होंने भी की और उन्होंने अपनी हिंसाका ही फल भोगा मगर मोटे रूप में जो दिखने में बात आयी कि मारा तो एक व्यक्तिने और फल भोग। दसों बीसों लोगों ने। एक हिंसा करे और अनेक फल भोगें। ऐसे ही अनेक लोग हिंसा करें और फल भोगा एक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

राजा ने। सेना को दूसरी सेना पर आक्रमण करनेका आर्डर दिया तो उन सिपाहियों ने हजारों लाखों जीवों की हत्या कर दी, पर जो प्रकरण की हिंसा है उस हिंसाका फल राजाको लगा। हिंसा न कर सके और हिंसा का फल पहिले भोग लें यह सब नयदृष्टिसे ही तो सुझलता है। किसी जीव को मारनेका संकल्प करते ही हिंसा लग गयी। चाहे मार सके वह १० वर्षों में, पर मारनेका संकल्प जब किया तभी हिंसा लग गयी और उसका फल भी भोगेगा, यह नयदृष्टिसे ही तो लिखा है। हिंसा न करके भी हिंसाका फल भोगे तो यह सब नयभेद समझना बहुत कठिन है। सो जो कोई मूढ़ आदमी बिना समझे ही नयचक्रमें प्रवेश करता है वह लाभ के बदले हानि ही प्राप्त करता है।

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

हिंसाप्रसंगकी जानकारी करके हिंसापरिहार करनेका अनुरोध—आचार्यदेव कहते हैं कि अब तो निरन्तर कर्मोंके संवर करनेमें उद्यमी होना चाहिये और यथार्थतासे इन चार बातोंको समझ लेना चाहिये कि हिंस्य क्या है, हिंसा क्या है और हिंसा का फल क्या है? तो जिसकी हिंसाकी गई उसे कहते हैं हिंस्य। हिंसा वास्तव में खुद की हुई सो खुद ही हिंस्य हुए। जो प्राणों का घात हुआ वह हिंसा हुई। निश्चय से खुदके ही प्राणों का घात हुआ सो खुद की हिंसा हुई। जो हिंसा करे वह हिंसक है। अपने आपकी इससे खुद हिंसा की इस लिए यह ही खुद हिंसक हुआ। अपना जो खुदका प्राण है ज्ञान दर्शन चैतन्यभाव तो ज्ञान दर्शन को बरबाद किया तो खुद ही हिंसक बने। हिंसा का फल क्या है कि हिंसा से जो फल मिला उसे भोगे तो निश्चयसे हिंसाके परिणाम में तत्काल ही जो व्याकुलता हुई वह हिंसा का फल हुआ और अब व्यवहार दृष्टिसे देखे तो हिंस्यमाय ने जिस जीवकी हिंसा की गई। अब निश्चयसे देखो कि इस जीवने अपने आपकी हिंसा की, अपनी ही हिंसा की, अपनी ही परिणतिसे हिंसा की और अपनी ही हिंसाके फलमें खोटी पर्याय भोगेगा, वह फल हुआ। तो निश्चयसे मैं खुदकी ही हिंसा करता हूं और खुदकी ही हिंसा का फल भोगता हूं, हिंसारूप परिणमन करता हूँ, जिसका फल नारक निगोद आदिक है तो उस हिंसा से बचने के लिये अपने आपमें यह निर्णय करके कि मैं खुद ही खुदके परिणाम खोटे करके खुदकी बरबादी करता हूं। सो खोटा परिणाम छोड़ देना चाहिये और बाहरी आचरण ऐसा हो कि जिसमें हिंसाका दोष हो उसको त्यागना चाहिये।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

हिंसापरिहारेच्छु जनोंको मद्य मांस मधु व उदम्बरफलोंको त्यागनेका उपदेश—हिंसा त्याग करने की कामना वाले पुरुषों को प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस और शहद तथा ५ उदम्बर फलों का त्याग करना चाहिये। पहिला है अभक्ष्य भक्षण। त्याग करनेका मूल आधार है हिंसाका परिहार और दूसरी बात नहीं। अमुक चीज न खाना, इसका आधार है हिंसाका परिहार। शराबमें तो हिंसा है, शराब सड़ाकर बनाई जाती है। उसमें बहुत से कीट मरते हैं। मांस तो प्रत्यक्ष हिंसा है ही। शहदमें भी प्रत्यक्ष हिंसा है। जरा विचार तो करो कि वह शहद है क्या चीज? शहद मक्खियोंका वमन और विष्टा ही तो है। तो जो वमन है उसमें स्वयं अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं। तो जो शहद चीज है वह स्वयं एक ऐसी चीज है जिसमें अनेक जीव उत्पन्न होते हैं। मांस तो किसीके घातका होता है और शहद किसीके घातसे नहीं हुआ करता और जो जीव उत्पन्न होते रहते हैं वे मरते हैं तो इसमें हिंसाका दोष है और ५ जो उदम्बर फल हैं, ऊमर, कठूमर वगैरह, इनमें तो कोई प्रत्यक्ष जीव देख भी सकता है। जो फल फूलके बिना काठमें से निकलता है वह उदम्बर फल कहलाता है। इनमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चतुरिन्द्रिय जीव तक स्वयं उत्पन्न होते हैं। उन्हें फोड़ो तो उनके अन्दर कीड़े निकलते भी हैं। इन ८ चीजोंका त्याग करना यही ८ मूल गुण कहलाते हैं। मद्य, मांस, मधुका त्याग, उदम्बरका त्याग और देवदर्शन, जीव दया, रात्रिभोजन त्याग और अनछने जल का त्याग। ये ८ मूल गुण हुए। उदम्बरोंको ५ को एक में ले लें तो चार हुए व चार अन्य बड़े, इस तरह भी ८ मूल गुण हैं—मद्य, मांस और मधु त्याग और पंचमहाव्रतोंका पालन करना यों भी ८ मूल गुण हुए। जो ऊंची योग्यता वाले श्रावक हैं वे पंच अणुव्रत पालते हैं, जो मध्यमी कक्षा वाले हैं वे ८ मूल गुणोंका पालन करते हैं और जो जीव निम्न श्रेणीके हैं उनके लिए साधारण ८ मूल गुण हैं।

धर्मपालनमें अहिंसाका आधार—यह एक चारित्रका अधिकार चल रहा है। अब इस चारित्राधिकार में चारित्र शुरू करते हैं और चारित्रमें श्रावकोंका चारित्र शुरू करते हैं। यह प्रथम श्लोक है अष्ट मूल गुणका पालन करना। इसकी भूमिका में कई जगह अहिंसा की बात कही गई है क्योंकि इस चारित्रका आधार है हिंसाका परिहार। आत्महिंसा का परिहार, परहिंसाका परिहार, यही चारित्र है। तो हिंसा रूपमें बहुतसी बातें बताकर यह सिद्ध किया है कि जो अपना परिणाम मलिन हुआ वह हिंसा है। बाह्य में जो हिंसा है वह मलिन परिणामपूर्वक होती है इसलिये हिंसा कही जाती है। यह सब वर्णन करके चारित्रके रूपमें मोटे अभक्ष्यकी बात कही जाती है। इन ८ बातोंमें लोगों को एक शब्द पर जल्दी श्रद्धा नहीं होती है। उसका भी विवरण होगा। यहां सर्वप्रथम शराब में क्या दोष है उसे बताते हैं।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

मद्यपानके अनर्थ—मद्य मनको मोहित करता है। शराब पीने से मन बेहोश हो जाता है और जिसका चित्त बेहोश हो गया वह धर्म को भूल जाता है और जो धर्म को भूल गया ऐसा जीव निशंक होकर हिंसाका आचरण करने लगता है। तो मद्य एक तो बेहोश करने वाला है, दूसरे मद्य निकृष्ट वस्तु है, मद्य पीने वाला मनमानी हिंसा करने लगता है, क्योंकि वह अपने को भूल गया। एक बात और मद्य पर्यायोंमें पायी जाती है कि उनके बल नहीं रहता। थोड़ा बहुत नशा करें तो भले ही कुछ शक्ति रहे, पर ज्यादा नशा करने वालेके शरीरमें शक्ति नहीं रहती। इसका हमने परिचय भी एक बार किया है। एक बार हम और गुरु जी जा रहे थे, एक मद्यपायी आया और गुरु जी का कमण्डल लेकर भागने लगा। अब हमारा कर्तव्य हो गया कि उससे भिड़ें। सो हमने दौड़कर उसे पकड़ा और कमण्डल छीन लिया। यद्यपि वह बहुत मोटा था पर उसके शरीर में शक्ति न थी। मद्यपान से सभी ऐब आ जाते हैं और सभी बरबादी हो जाती है तो यों मद्यपान का निषेध है।

मद्यमें पूर्वापर हिंसा—शराब महुवा की भी बनती है। महुवा का तैल भी होता है। तैल बनता है महुवाके फलसे और शराब बनती है फूल से। तो उसे विवेकी लोग नहीं खाते। शराबमें रससे उत्पन्न हुए बहुतसे जीव हैं ही। वे योनिभूत हैं और उत्पन्न होते रहते हैं इस कारण मदिराके सेवन करने में जीवोंका भी घात है। मद्यपायी मद्यपानमें धर्मको भूल जाता है सो हिंसा में वह निःशंक होकर प्रवृत्ति भी करने लगता है। यह मद्य हिंसा की चीज है और उसे त्यागे बिना अहिंसा नहीं होती। इसलिये श्रावकों को इस मद्यका त्याग अवश्य करना चाहिये। देखो सबसे पहिले मद्य शब्द दिया है। यह अन्य चीजोंसे भी अधिक बुरी चीज है क्योंकि मद्यपान करनेसे जीव बेहोश हो जाता है।

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

मद्यपानमें हिंसा की अवश्यंभाविता—मदिरा जीवोंके घातसे पैदा होती है और मदिरामें और जीव भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उत्पन्न होते रहते हैं इस कारण जो मदिरा का सेवन करते है उनको अवश्य उन जीवोंकी हिंसा का दोष आता है। मदिरामें निरन्तर जीव पैदा होते रहते हैं क्योंकि मदिरा चीजों को सड़ाकर बनाया जाता है और उसमें जीव निरन्तर होते हैं तो उसका पान करने में जीवोंकी भी हिंसा हो जाती है। तो जो अहिंसावृत्ति चाहते हैं उन्हें मदिरा न पीना चाहिये। हिंसा और अहिंसाका इतना मर्म है कि प्रकट जागरूक रहे और अपना आत्मा अपनी दृष्टिमें रहे तो उनकी अहिंसा है और अपने आत्मा की सुध न रहे, बाहरके किसी काम को करने का संकल्प भी करे तो उसमें हिंसा है। परपदार्थोंमें रागद्वेष मोह हो तो हिंसा है और अपने आपके शुद्धस्वरूपकी दृष्टि होना सो अहिंसा है। हिंसा और अहिंसाका स्पष्ट अर्थ यह है। जो मदिरापान करते हैं उनके चित्त की शुद्धि कहांसे हो और जिनके चित्त में शुद्धि नहीं वे अहिंसाधर्म नहीं पाल सकते। अतः अहिंसाव्रतके पालने वालों को मदिराका पान अवश्य छोड़ देना चाहिए।

अभिमानभयजुगुत्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ।।६४।।

मद्यपायीके अनेक भावहिंसायें—जीवमें जो खोटे भाव उत्पन्न होते हैं जैसे घमंड आदि वे सब हिंसाके ही पर्याय हैं, परिणमन हैं। किसी को तुच्छ मानना अपने को बड़ा समझना यह वृत्ति प्रकृत्या लग जाती है, मद्यपायी घमंडी भी होता है। डर भी हिंसा है, किसीका भय माना तो अपने आपकी हिंसा की और भय मदिरा पीने वालों के रहता ही है, किसी से डर माना, उससे अपना दिल दुःखा तो डर मानना भी हिंसा है। डर लगने का दोष मद्यपायीके आ ही जाता है, अतः अहिंसा धर्म पालने के लिए मद्यपान का त्याग करना चाहिये। एक है ग्लानि करना, दूसरेसे ग्लानि अर्थात् घृणा करना यह भी हिंसा है। जहां अपने परिणाम बिगाड़े वह सब हिंसा है। ग्लानि करना भी हिंसा है। मदिरा पीने वालों में यह दोष पैदा हो जाता है कि वे दूसरोंसे ग्लानि करने लगते हैं, कुछ डर जाते हैं, घमंड बगराते हैं वह सब हिंसा है। हंसी करना भी हिंसा है, और ऐसी हिंसा मदिरापान करने वाले के होती ही है, इस कारण से जो अहिंसक पुरुष हैं उन्हें मदिराका पान न करना चाहिये। एक है द्वेष करना। किसीसे बैर करना यह भी हिंसा ही है, यो यह बैर करना भी मद्यपायी पुरुषोंके हुआ करता है। अतः मद्यपानमें हिंसा है। क्षोभ करना, शोक करना आदिक भी मद्यपायीमें हो जाते हैं। शोक भी एक आत्माका घात करने वाली बात है और यह शोक मद्यपायीओंके लगा ही रहता है। तो जिसे हिंसा न चाहिए, अपनी बरबादी न चाहिये उसे मदिरापान छोड़ना चाहिये, ऐसे ही खोटे विचार आयें, मायाचार आयें ये सब बातें भी मदिरापान करने से बढ़ जाती हैं। तो ऐसी भी हिंसा जो न चाहें उनका कर्तव्य है कि मदिरापानका परित्याग कर दें। मद्यपान करने से जितने भी दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मदिरापानसे हैं। ये सभी दोष मद्यपान करने से हो जाते हैं, अतः इन दोषों से बचने के लिये मद्यपानका परित्याग करना चाहिये।

न बिना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ।।६५।।

मांसभक्षणमें अनिवारित हिंसा—कहते हैं कि प्राणोंका घात किये बिना मांसकी उत्पत्ति नहीं मानी गई है, तो मांस भक्षण करने वाले पुरुषों के नियमसे हिंसा ही है। मांस तो जीवके शरीर का ही एक भाग है। शरीरको छोड़कर और जगह मांस नहीं रहता। दो इन्द्रियोंसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके जो जीव हैं उनके शरीर में मांस होता है और उन जीवोंका घात करनेसे मांसकी उत्पत्ति होती है, नहीं तो जीवके घात बिना मांस नहीं मिलता, तो ऐसे जो मांसभक्षण करने वाले लोग बहुत निर्दयी हैं उनके अन्दर दया का नाम नहीं है। जैसे मदिरापान करने वाले को हिंसा लगती है ऐसे ही मांस खाने वाले को हिंसा लगती है उसमें से तो हिंसा की बात स्पष्ट दिखती है। बड़े-बड़े जंगली जानवर मारे जाते हैं तो वे चिल्लाते हैं, दुःखी होते हैं, उनकी कोई सुध भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं करता। तो ऐसे जीवों को सताकर उत्पन्न हुआ जो मांस है उसका भक्षण महामूढ़ अज्ञानीजन ही करते हैं और उनके संसारकी भटकना ही बनी रहती है।

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोदनिर्मंथनात् ॥६६॥

स्वयं मृत प्राणीके भी मांसभक्षणमें हिंसाका दोष—एक प्रश्न किया जा रहा है कि—मारे हुए जीव का मांस हो उसके खानेमें तो दोष होना चाहिये पर जो जीव खुद मर गया तो खुद मरे जीवका मांस खाने में क्यों दोष है? ऐसी शंका हुई: उसके उत्तरमें कहते हैं कि जो स्वयं मरे हुए जीव का मांस हो उसके भी खानेमें दोष है क्योंकि मांसके आश्रय निगोद जीव जो भी उसी जातिके जो जीव उत्पन्न होते रहते हैं तो मांस भक्षण में उन जीवोंका घात होता है, अतः चाहे मरे जीवका मांस हो, चाहे किसीका घात करके उत्पन्न हुआ मांस हो उसके खाने में दोष ही है। मरे हुए जीवके मांस में भी उसी जातिके अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं, जिस जातिका वह जीव है। उसी जातिके अनेक जीव और भी उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिये उसके खाने में उन जीवोंका घात होता ही है। अतः स्वयं मरे हुए जीवका भी मांस खाने में हिंसा का दोष है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥

मांसकी सर्वदशाओंमें निरन्तर जीवोंकी उत्पत्ति—मांस ऐसी निंद्य वस्तु है कि चाहें पका मांस हो चाहे कच्चा मांस हो, समस्त मांसोंमें उस जातिके जीवोंका निरन्तर उत्पाद होता रहता है। याने मांस कच्चा हो उसमें भी जीव उत्पन्न होते रहते हैं, अतः उसमें भी पाप होता है और पक रहा हो उसमें भी निरन्तर उत्पन्न होता रहता है। कितनी विलक्षण बात है कि पके हुए मांसमें भी जीव उत्पन्न होते रहते हैं। तो मांसकी डलियां सही अवस्था में कच्चा हो तो, पक रहा हो तो उस ही मांसरूप नये-नये जीव उत्पन्न होते रहते हैं तो समस्त जीवों का घात होता है, अतः मांसभक्षण करने वालेके बहुत बड़ी हिंसा चलती रहती है। हिंसा चलती है तो संसारका बंध बढ़ता है और हिंसा दूर रहे तो संसार का बन्धन कटता है।

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

मांसभक्षणमें अनेक जीवसमूहोंकी हिंसा—जो जीव कच्चे अथवा पके हुवे मांस की डलीको छूता भी है वह बहुत समयसे एकत्रित हुए अनेक जातिके जीवोंके पिण्डको हनता है क्योंकि समस्त मांस पिण्डमें जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है, इसलिये मांस का खाना तो दूर रहा उसके छूनेमें भी हिंसाका दोष लगता है। जो लोग मांस खाने वाले हैं उनके चित्त में क्रूरता रहती है इसलिये क्रूरता का भाव होनेसे उनके और भी हिंसा का दोष लगता है इसलिये मांस भक्षण में बहुत बडी हिंसा है। उस हिंसा का त्याग करने के लिए अष्ट मूल गुणों में बताया गया है। मांसमें दोष बताया कि हर पर्यायमें उस जातिके जीव उत्पन्न होते रहते हैं जिसका भक्षण करनेसे जीव मर जाते हैं इसलिये मांसभक्षणका त्याग अवश्य होना चाहिये।

मधुशकलमपि प्रायो मधुकर हिंसात्मको भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

मधुभक्षणमें भी अनेक जीवसमूहोंकी हिंसा—इस श्लोक में शहद की बात चल रही है। शहद मक्खियों का वमन और विष्टा है। इसमें जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, अतएव जो मूढ़ बुद्धि पुरुष शहद का भक्षण करते हैं वे अत्यन्त हिंसा करते हैं। जैसे मनुष्य का मल और अथवा लार हो तो उसमें जीव निरन्तर उत्पन्न होते हैं ऐसे ही मक्खियोंके वमन और विष्टासे तैयार किया हुआ जो शहद है उसमें भी जीव निरन्तर उत्पन्न होते

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहते हैं, उसका खाना हिंसा है। जिसे इस हिंसासे बचकर अहिंसा धर्म पालना है उसे शहदके भक्षणका त्याग कर देना चाहिये।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥७०॥

स्वयं विगलित मधुके भक्षणमें भी हिंसा—अब कुछ लोग इस तरह से भी शहद तैयार करते हैं कि एक डिब्बा बनाया, उसमें मधुमक्खियां बसाईं और नीचे शहद अपने आप गिरता है। तो उसमें भी अनेक छोटे-छोटे जीव मर जाते हैं। कोई शंकाकार यह कहता है कि शहद के छत्ते को निचोड़ा न जाय, उसमें डिब्बासा बनाकर मधुमक्खियोंको बसा लिया जाय और फिर शहदको नीचे टपका लिया जाय तो उसमें दोष न लगना चाहिए? कहते हैं—नहीं, ऐसी बात नहीं है, उसमें भी जीव राशि उत्पन्न होती रहती है, उसका भक्षण करने से जीव मर जाते हैं, अतः विवेकी पुरुष शहदका भक्षण नहीं करते।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१॥

महाविकृतिरूप मधु मद्य मांस मक्खनके भक्षणका निषेध—इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि शहद, मदिरा, मक्खन और मांस—ये चार चीजें महाविकार को धारण किए हुए हैं। म्यादसे बाहरका मक्खन हो तो उसमें बहुत से जीव उत्पन्न हो जाते हैं। जो लोग नेनू निकाल कर दो चार दिन रखे रहते हैं और कई दिन बादमें उससे घी बनाते हैं तो महाविकार है। दूसरी बात यह है कि मक्खन एक बुरा भाव उत्पन्न करता है जीवमें इसलिये वह महाविकार है। तीनका तो वर्णन पहिले किया ही था—मद्य, मांस और मधु। उसमें एक मक्खन और कह कर बता रहे हैं कि यह महाविकार है, यह व्रती लोगोंके खाने योग्य नहीं है क्योंकि इसमें उसकी जातिके जीव होते हैं। इस मक्खनके खानेसे परिणाम विकाररूप हो जाता है और ऐसे मक्खनके भक्षणसे कामादिक भाव उत्पन्न होते हैं इसलिये मक्खनका त्याग बताया गया है। मधुमें मधुके ढंगके, मदिरामें मदिराके ढंगके, मक्खनमें मक्खनके ढंगके तथा मांसमें मांसके ढंगके जीव उत्पन्न होते हैं, वे जीव ऐसे सूक्ष्म होते हैं कि दिखनेमें नहीं आते। इस कारण इन चीजोंका भक्षण करना उचित नहीं है, अचार, विष आदि भी इसी प्रकारके विकार वाली चीजें जानना चाहिये। इनको भी व्रतीजन नहीं खाते। इनसे आत्मामें खोटे भाव उत्पन्न होते हैं। इन तीन मद्य, मांस, मधुके त्यागके साथ-साथ यह भी बताया गया कि चमड़ेमें रखे हुए घी, तेल, जल आदिक भी न खायें। बहुत दिनोंका रखा हुआ अचार न खायें, कभी-कभी तो नीबू के अचारमें लट पड़ी हुई दिखाई देती है। तो उसमें सब जीवोंका घात हो जाता है इस कारण इनका त्याग व्रती पुरुषोंको करना ही चाहिये। इनके त्याग बिना अहिंसाधर्ममें कोई कदम रख नहीं सकता। और अहिंसा ही जीवोंका शरण है। इस लोकमें कोई किसीका शरण नहीं है, अपने आपका अहिंसारूप परिणाम ही इस जीवका शरणभूत है।

योनिरुदम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

पञ्च उदम्बरफलोंके भक्षणमें त्रसहिंसा—ये जो ऊमर, कठूमर, गूलर, बड़, पीपल आदिक जो फल हैं जिनमें फूल तो होते नहीं और काठ ही फोड़कर पैदा होते हैं तो वे फल त्रस जीवोंसे भरे हैं, उनका भक्षण करनेमें हिंसा है और कितने ही फलोंमें उनके फोड़ने पर स्पष्ट दिखते हैं इस कारण उनके खानेमें त्रस जीवोंकी हिंसा है। देखनेमें भी ऐसा लगता है कि हां इसमें जीव उत्पन्न होते ही रहते हैं। तो वे कठूमर जो काठ फोड़कर उत्पन्न होते हैं उनमें जो बस रहे जीव हैं उनकी तो हिंसा होती ही है, इस कारण इन कठूमरोंके भक्षणमें दोष है अहिंसा धर्म पालने वालोंको इन फलोंका भक्षण न करना चाहिए।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यानि तु पुनर्भवेयः कालेच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ।।७३।।

शुष्क उदम्बरफलोंके भी भक्षणमें हिंसा—और फिर भी जो ५ उदम्बर हैं वे सूख भी जायें काल पाकर त्रस जीवोंसे भी रहित हो जायें तो भी उनका भक्षण करने वालोंके विशेष रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं इसलिये हिंसा होती है। तो ऐसे निन्द्य पदार्थोंको जो खाता है वह हिंसक पुरुष है। किसी ने ऐसी शंका की कि ऐसे पदार्थोंको सुखाकर खाये तो उनके खानेमें तो हिंसा न होगी ? उत्तर दे रहे हैं—कि जब वह फल सूखा तो उसके जीव भी सूख गए, हिंसा हो गई और सुखाकर खानेमें रागकी विशेषता बढ़ती है, क्योंकि ये जो पदार्थ हैं ऊमर कठूमर आदिक तो यह साधारणतया कोई जब विशेष राग उत्पन्न हुआ और उसे सुखाकर खाते हैं यह बहाना करके कि इसमें जीव नहीं रहे, तो उसमें भी हिंसा है। तो इन अष्टमूल गुणोंमे सबसे पहिले इन ८ चीजों का त्याग बताया है। और इन ८ चीजोंका त्याग करनेकी बात कह कर अब अन्तमें इन आठों गुणोंसे सम्बन्धित एक उपसंहार करते हैं।

मद्य मांस मधु पञ्च उदम्बर फलोंके त्याग बिना जिनधर्मदेशनाकी अपात्रता—ये अष्ट प्रकार के पदार्थ दुःखदाई हैं और पापोंके साधन हैं, इन अष्ट प्रकारके पदार्थोंका त्याग करके जो शुद्ध बुद्धि वाले हैं वे जैन धर्मके उपदेश सुननेके पात्र होते हैं याने मांस भक्षण करने वालोंके चित्त में जैनधर्म की बात नहीं समा सकती। जो इन अष्ट प्रकारके पदार्थोंका त्याग कर देते हैं वे ही जैनधर्मके उपदेश सुनने के पात्र होते हैं। जो यथार्थ है, वस्तु के स्वरूप की बात, जिसके पालन करनेसे ज्ञान, करनेसे इस जीवका मोह दूर होता है। ससारके संकटोंसे ये अलग हो जाते हैं, इस कारणसे मद्य, मांस, मधु वगैरहका जो त्याग करते हैं वे ही जैनधर्मका उपदेश सुननेके पात्र हैं। इस कारण इन ८ प्रकार की चीजोंका त्याग करना अष्ट मूलगुण बताया है। जो इन अष्ट प्रकारकी चीजोंका त्याग नहीं कर सकते उनको उपदेश क्या लगेगा ? उनका तो चित्त ही ठिकाने नहीं है। उसके तो घोर अज्ञान अन्धेरा बसा हुआ है। ऐसे अन्धकारमें रहने वाले पुरुष जैनधर्मका उपदेश सुननेके पात्र नहीं होते। बहुत मोटी चीज बतायी जिसे सभी लोग पालन कर सकते हैं। जो इनका त्याग करते हैं वे श्रावक कहलाते हैं, वे ही दया धर्म पालन करने वाले कहला सकते हैं।

श्रावकोंके मूलगुणोंका तीन प्रकारमें विवरण—अब यहां मूल गुण तीन ढंगसे बता रहे हैं। जो लोग जैन कुलमें उत्पन्न हुए हैं, बड़े कुलमें उत्पन्न हुए हैं उनको बताया है कि जो मद्य, मांस, मधुका त्याग करें और ५ अणुव्रतका पालन करें उन्हें ऊंची क्रियाओंकी चीज बतायी है। मद्य, मांस, मधुका त्याग और ५ उदम्बर फलोंका त्याग करना, जीवोंको दया पालना, देखकर चलना, शिकार न खेलना—ये पंचमूल गुण हैं, छठा है जल छानकर पीना, क्योंकि जलमेंभी असख्याते त्रसकायके जीव रह सकते हैं। जल छान लेने से वे जीव छन्नेसे नीचे नहीं आते, बादमें उस छन्नेको भी छने हुए पानीसे धोकर उसी अनछने पानी में डाल देते हैं। इससे उन त्रस जीवोंका घात नहीं होता। ७वां मूल गुण है रात्रि भोजनका त्याग। रात्रिमें अनेक जीवोंका संचार होता है। रात्रिमें भोजन बनानेमें बहुत बड़ी हिंसा होती है, मक्खी मच्छर आदि मरते रहते हैं, फिर रात्रिके समयमें वे जीव आते रहते हैं, सूर्य की रोशनीमें वे जीव नहीं आते हैं। कुछ ऐसी ही प्राकृतिक बात है। जो लोग रोशनी करके भी खाते हैं तो उस रोशनी में और ज्यादा जीव आते हैं। तो ७वां बताया रात्रि भोजन का त्याग और ८वां मूल गुण बताया है देव दर्शन। प्रभुके दर्शन करना, मूर्तिके दर्शन करें या प्रभुका ध्यान करें। अपने मनसे अर्थात ज्ञानसे उनके दर्शन करें तो यह भी एक मूल गुण है। जिसमें अहिंसाकी वृत्ति है उसमें अपने आपकी सुध बढ़ती है। अपने में यह दृढ़ता होती है कि प्रभु की तरह मैं भी चैतन्यस्वरूप हूं, सबसे निराला हूँ— ऐसी अपने अन्दर चैतन्यस्वरूपकी सुध बनी रहे तो उसमें भी अहिंसा पलती है, हिंसा दूर होती है। तो इस प्रकारके अष्टमूल गुणोंका धारण श्रावकोंको करना चाहिए जिससे उनके गुणोंमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो और वे अपने धर्मका पोषण कर सकें। जैन धर्मके शास्त्र सुनने [illegible] की उनमें पात्रता जगे, इस कारणसे ये ८ प्रकारके मूल गुण उन श्रावकोंको धारण करने चाहियें। और जो श्रावक इन ८ मूल गुणोंको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

धारण नहीं कर सकते तो उन्हें जो सर्वप्रथम बताये गए मूल गुण हैं—मद्य, मांस, मधुका त्याग और ५ उदम्बर फलोंका त्याग अवश्य करना चाहिये। जो लोग क्रूर चित्त वाले हैं, जिनका विचार अस्थिर हो गया है ऐसे पुरुषों को बताया है कि उनको भी जरूर इन अष्ट मूल गुणोंका धारण करना चाहिये। वे आठ मूल गुण बहुत ही सरल चीज हैं, जिससे न कोई आत्माका विघात होता है, न क्षय होता है, ऐसे आठ मूल गुण प्रत्येक प्राणीको धारण करना चाहिये। चाहे वह आगे न बढ़ सके, कैसी ही ओछी जातिका हो, पर ये ८ मूल गुण तो सभी पुरुषोंको धारण करना चाहिये। इनके धारण किए बिना धर्ममार्गमें अपना कदम नहीं रख सकते हैं। तो मद्य, मांस, मधु और ५ उदम्बर फल ये ५ महापापोंके कारण हैं, इस कारण इनका त्याग करे तो तब ही वह पुरुष जैनधर्म का उपदेश सुनने योग्य है। इनका त्याग किए बिना पुरुष विवेकी नहीं कहला सकता। इस प्रकार इन ८ चीजों का त्याग करना अष्ट मूल गुण बताया गया है। इनका पालन अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार इस अहिंसाके प्रकरणमें सर्वप्रथम यह बताया कि जीव चारित्रमें आये तो सबसे पहिले इन आठ मूल गुणोंका अवश्य पालन करे।

धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७५॥

हिंसा और अहिंसाका मौलिक स्वरूप—समस्त जीवों को एक यह इच्छा रहती है कि दुःखसे तो छूटें और सुखमें आयें। तो जो उपाय दुःखसे छुटाये और सुखमें पहुंचाये उस ही का नाम धर्म है। संसारके प्राणियों को दुःखसे छुटाये, उत्तम सुखमें जो ले जाय उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म अहिंसास्वरूप है। अहिंसा का नाम धर्म है। हिंसा का नाम अधर्म है। किन्तु किसकी हिंसा और किसकी अहिंसा? आत्माकी अहिंसा हो उसका नाम धर्म है और आत्माकी हिंसा होना उसका नाम अधर्म है। किस आत्माकी? निज आत्माकी अहिंसा का नाम धर्म है और निज आत्माकी हिंसाका नाम अधर्म है। आत्माका घात रागद्वेष मोह भावसे होता है। यह आत्मा स्वरूपतः ज्ञानानन्दमय है और जैसा विलास जैसा परिणमन प्रभुका है, अरहंत सिद्ध भगवानका है वैसा ही प्रताप हम आप सब आत्माओंका है, लेकिन राग द्वेष मोह जो विभाव होते हैं उन विभावोंसे आत्माका घात होता है, लौकिक प्रसंग किन्हीं व्यवहारके साधक हैं, रहो, लेकिन हम आप सबको ऐसा अन्तः अलौकिक प्रसंग बनाना चाहिये जिससे आत्माकी रक्षा हो। हर एक कोई अपनी-अपनी रक्षा अभिलाषी है। जिसमें अपनी रक्षा हो उस कामसे चूकना नहीं चाहिये। विवादोंमें क्या रखा है और व्यवहार में क्या रक्खा है अर्थात् नाना जीवोंसे स्नेह बढ़ाना, उनमें घुल मिलकर रहना इन बातोंसे भी आत्माकी क्या रक्षा है। आत्मा की रक्षा तो निर्विकार ज्ञानानन्दस्वरूप जो कुछ मात्र सत्त्वके ही कारण सहजभाव हो उन भावोंरूपमें आत्मा की प्रतीति करना, यही है आत्मा की रक्षा। जो जीव जब जब भी किन्हीं बाह्यपदार्थोंमें राग और मोह बसाता है, उनकी दृष्टि बनाता है, उनमें रमता है, मौज मानता है, अथवा खेद करता है तो वे सब परिणमन आत्माकी हिंसा हैं, उन परिणमनोंमे अधर्म है और जो परिणमन आत्माके निर्विकार भावोंपर दृष्टि ले जाय निर्विकार सहजस्वरूप में रमनेकी पात्रता बनाये वह सब परिणमन धर्म है। तो धर्म हुआ अहिंसा।

अहिंसाधर्म के पालनका अन्तर्बाह्यरूप—अब उस अहिंसाधर्ममें कदम रखने वाले मुनिकी क्या प्रवृत्ति होती है जिससे वह अहिंसा धर्म के पालनेका पात्र रह सकता है, उस ही काम का नाम चरणानुयोग है। तो करना क्या है आत्महित के लिए? उसका उत्तर मूलमें एक होता है। फिर साधक दशा में तो योग्यता और पद के अनुसार भिन्न-भिन्न उत्तर होते हैं। उन्हें भी समझना सो समझ सच्ची है। मूलमें जो उत्तर है आत्म-हितके लिये केवल उसे ही पकड़कर रहना और अपनी योग्यता पदके माफिक जिन चाहे उन उत्तरों से विमुख रहना, उनमें कुछ भी अपना उपयोग न करना यह तो थोड़ा धोखे वाली बात है और पदों के माफिक परिणाम

Report any errors at vikashd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

योग्यता के माफिक ही केवल उत्तर लेना और मौलिक उत्तरको मना करना यह भी धोखे वाली बात है। दोनों को समझना चाहिए तब सर्व समाधान आता है। सो सुनिये—आत्महितके लिये क्या करना है ? आत्महितकेलिये आत्माका जो सहज स्वरूप है अनादि अनन्त अहेतुक, असाधारण, उस स्वरूप को जानना उसे मानना और उसमें रमण करना, यही हुआ अभेद सम्यक्त्व ज्ञान और आचरण। यही है आत्महित के लिए मौलिक उपाय। लेकिन ऐसा जो नहीं कर पा रहे हैं उनके आत्मामें स्थिरता नहीं हो सकती है। लक्ष्य तो अपना यही बनायें कि जैसा पद है उस पद के योग्य अपना व्यवहार कार्य करें जिससे उसके पात्र बने रहें। उसका ही नाम मुनिधर्म है और श्रावक धर्म है। तो यह श्रावकधर्म की बात चल रही है। अहिंसा धर्म है निर्विकार आत्मस्वरूपका आलम्बन करना सो अहिंसा है। ऐसे ही अहिंसा का पालन करने के लिए उद्यमी पुरुष का अपने पद के माफिक क्या परिस्थिति बनती है, क्योंकि जब रागादिकका उदय है, रागादिक परिणाम होते हैं तो उनका क्या प्रयोग किया जाता है, कैसी परिणति होना चाहिये, उसके वर्णन में सबसे पहिले यह कहा गया कि अष्टमूल गुणों का पालन तो करना ही चाहिये, उसके बिना तो वह श्रावक भी नहीं और जैनधर्मके उपदेश सुननेका भी पात्र नहीं। यह है एक ऐसा मौलिक आचरण जो अनिवार्य है। मद्य, मांस, मधुका त्याग और पंच उदम्बर फलों का त्याग, यही मौलिक आचरण है। उसी को ही पुष्ट करते हुए बतला रहे हैं कि अहिंसामयी धर्मकी वार्ता सुन करके भी जो पुरुष स्थावर जीवों की हिंसा वर्तमानमें सर्वथा नहीं छोड़ सकते हैं वे पुरुष त्रस हिंसाका तो परित्याग करें।

अहिंसाधर्मके पालनके लिये गृहस्थधर्म व मुनिधर्मका निर्देश—देखिये एक धर्मभाव बनानेके लिये किस शैलीसे आचार्यदेव ने वर्णन किया है ? आत्महित के लिये मूलमें एकमात्र कर्तव्य यह है कि एक निर्विकार निज ज्ञानस्वभावको जानकर उसमें ही रमण करें। कर्तव्य तो यह है, पर इस कर्तव्य को पूर्ण करने की स्थिरता जिनके प्रकट नहीं है, जिनकी रागादिकमें प्रवृत्ति है ऐसे पुरुष ऐसा ही कार्य करें जिन कार्योंसे अपने लक्ष्यकी भूल न हो सके। विरुद्ध कार्य न हो उसही का नाम मुनिधर्म और गृहस्थधर्म है। अहिंसा व्रतके पालन के लिए, निज अंतस्तत्त्वकी रक्षा के लिए बाहर में प्रवृत्ति भी ऐसी होनी चाहिए, कोई अहिंसाका पालन तो न करे और यह डींग मारे कि अतरङ्गमें तो अहिंसाधर्म बना हुआ है तो यह उसकी कोरी डींग है। जो अपनी आंतरिक अहिंसा व्रत का पालन करना चाहता है उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति में ऐसी हो कि जिसमें बाह्य धर्मका भी पालन करे, अर्थात् दूसरे का दिल न सताना यह ज्ञानियोंकी बाह्य प्रवृत्ति होती है। तो किन प्राणियों को न सताना, और किनको सताना ऐसा वर्णन जैन शासन में नहीं है। जैन शासन में तो सर्वप्राणियों का न सताना बताया है। किसी भी प्राणी के सतानेका संकल्प न जगे, वह है अहिंसा। लेकिन ऐसी अहिंसाको तो वह ही पुरुष पाल सकता है जिसने घर बार कुटुम्ब वैभव सब चीजोंका परित्याग किया और अपने शरीर से भी ऐसा उदासीन है कि ये मुनि किसी भी चीज की याचना नहीं करते। अपने लिए न आहार की याचना करते और न औषधिकी, ऐसी परम उपेक्षारूप निर्ग्रन्थ गुरुजन ही इस अहिंसाका पूर्णतया पालन कर सकते हैं। क्या गृहस्थोंसे भी अहिंसाका पूर्ण पालन कराया जा सकता है ? घरमें रहने वाले लोग क्या आजीविका का साधन न बनावेंगे. क्या आरम्भ न करेंगे ? न करें तो गृहस्थीपना कैसे बने ? तो उनके लिए बतला रहे हैं कि अहिंसारूप धर्ममें सुनते हुए भी जो सर्वजीवोंकी हिंसाका परित्याग नहीं कर सकते वे त्रस जीवोंकी हिंसाका परित्याग तो करें ही करें। क्योंकि त्रस हिंसाका परित्याग कर देनेसे जीवनमें कोई बाधा नहीं पहुंचती। तो गृहस्थ जो घरमें रहते हैं उनके स्थावरोंकी हिंसा सर्वथा न छूट सकेगी क्योंकि आग जलाते, पानी भरते, भोजन बनाते, व्यापार करते, ये सब बातें करनी पड़ती हैं गृहस्थों को। हां ज्ञानी पुरुष है इस कारण उसका लक्ष्य विशुद्ध रहता है, उसके अहिंसा धर्म पालनेका ही भाव रहता है, लेकिन गृहस्थीमें रहकर हिंसा का सर्वथा परित्याग असम्भव है, अतः आचार्यदेव बतलाते हैं कि वे हिन्साको तो छोड़ें ही छोड़ें।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चार प्रकारकी हिंसा और उसके त्यागका अनुविधान—संसार में जीव ५ प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । एकेन्द्रियका नाम तो स्थावर है और दोइन्द्रियसे लेकर पंचेइन्द्रिय तक वे सब त्रस कहलाते हैं। अग्निकी, पानीकी, वनस्पतिकी इनकी हिन्सा तो ग्रहस्थोंसे बनती रहती है। किन्तु फिर भी उस आरम्भी हिन्सा से बचना चाहता है, ऐसे कह रहे हैं कि उन्हें क्या आपत्ति है त्रस हिन्साके त्याग में, वे त्रस हिन्सा का पूर्ण परित्याग करें। शिकार खेलना, मद्य, मांस भक्षण व किसी जीव का सताना बन्द करें। यह तो सभी से बन सकता है। हाँ स्थावरों की हिन्सा छोड़ने में असमर्थ हैं। तो अब ये एकदेश अहिन्सक हो गये अथवा यों समझिये कि हिन्सा चार प्रकार की होती है—संकल्पी, उद्यमी, आरम्भी और विरोधी। इनमें संकल्पी हिन्साका तो परित्याग कर सकते हैं, शेष तीन की हिन्साओंका परित्याग करनेमें असमर्थ हैं प्रारम्भ न करें तो क्षुधापूर्ति का काम कैसे बने? उद्यम न करें, यों ही बैठे रहें तो घर गृहस्थी का नाम नहीं चल सकता है। आरम्भी हिन्सा छोडने में गृहस्थ असमर्थ है, हां साधुजन आरम्भी हिन्सा को छोड़ देते हैं तो उन्होंने इतना बल प्राप्त कर लिया कि अनेक उपवास हो जायें तो भी चित्त में विषमता नहीं आ सकती। वे अहिन्सा का पालन कर सकते हैं, पर गृहस्थी में यह बात सम्भव नहीं है। उद्यमी हिन्सा में आजीविका न्यायपूर्वक करे, सावधानीसे करे फिर भी जो जीवों की हिन्सा हो सकती है उसका नाम है उद्यमी हिन्सा, क्योंकि संकल्प नहीं है कि मैं उन जीवोंको मारू। ऐसे ही एक विरोधी हिन्सा है, यह भी गृहस्थों से बच नहीं पाती। कोई बैरी, शत्रु अपने धन पर अपनी जानपर हमला करने आया है तो उसे उत्तर न दें तो गृहस्थी नहीं निभ सकती है, तो यह है विरोधी हिन्सा। तो जो समस्त हिन्सावोंका परित्याग करनेमें असमर्थ हैं उन्हें संकल्पी हिन्साका तो परित्याग कर ही देना चाहिये। जितना हम बाहरमें प्रवृति कम करेंगे, अपने अन्तःस्वरूप में अपनी दृष्टि दृढ़ करनेका यत्न करेंगे तो यह तो अपने लिए भला है। यह गृहस्थ एकदेश हिन्सक बना, क्योंकि सर्वप्रकार से हिन्साका परित्याग करने में असमर्थ है। अब उसी अहिन्सा का साधन जो निवृत्ति है वह निवृत्ति किस ढंग से कहां सम्भव है? उसके बारे में बतलाते हैं।

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ।।७६।।

औत्सर्गिकी एवं आपवादिकी निवृत्तिके प्रकार—औत्सर्गकी निवृत्ति याने मूलमें एक रूप, आखिर जो करना चाहिये व्यवहारमें उसकी बात एक प्रकारकी होती है अथवा ९ प्रकारकी होती है। ९ प्रकारकी हिंसाका परित्याग करना सो औत्सर्गकी निवृत्ति है। ९ प्रकारसे परित्याग तो किया, पर वह परित्याग एक है, परिपूर्ण है। वे ९ प्रकार कौन हैं? मनसे हिंसा न करना, वचनसे हिंसा न करना और कायसे हिंसा न करना, यह तीन हैं—हिंसा न करना न कराना और हिंसाका अनुमोदन न करना, इन तीनों का तीनसे परस्पर गुणा किया जाय तो ९ भेद होते हैं अर्थात् मनसे हिंसा न करना, मनसे हिंसा न कराना और मनसे हिंसाकी अनुमोदना न करना, ऐसी ही ये तीन बातें वचनसे और तीन कायसे लगायी जाती हैं। तो औत्सर्गकी निवृत्ति सर्वथा परिहार वाली एक है, पर भिन्न-भिन्न पदोंमें कौन पुरुष किस किस गुणस्थान वाला, कितनी हिंसाका परित्याग कर पाता है? इन सब नजरोंसे देखा जाय तो वह सब अपवादरूप निवृत्ति है, वह अनेकरूप है। कोई थोड़ी निवृत्ति कर सका, कोई अधिक निवृत्ति कर सका तो ये तो सब भेद औपाधिक निवृत्तिके है। जैसे गृहस्थधर्म यह तो प्रकट औपाधिक निवृत्ति है। कोई पूछे कि मोक्ष प्राप्तिके लिए क्या करना चाहिये तो उसका उत्तर यह न होगा कि देव, पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयमश्चतपः तथा सामायिक वंदनादिक करना चाहिये। उत्तर यह होगा कि करना चाहिये आत्माके सहजस्वरूपका श्रद्धान् ज्ञान और आचरण। मौलिक उत्तर एक होगा लेकिन ऐसा करनेका जो लक्ष्य करे उसकी परिस्थितिमें कर्त्तव्य क्या है? तो उसके उत्तर ये सब होंगे—मुनिधर्म और श्रावक धर्म। तो अपवादरूप निवृत्ति है और मुनिधर्म औत्सर्गकी निवृत्ति है। तो अब अपवाद वाली निवृतिके सम्बन्ध में वर्णन कर रहे हैं।

Report any errors at vilasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयन्योविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ।।७७।।

गृहस्थारम्भमें अनिवारित अल्प एकेन्द्रियघातके अतिरिक्त शेषस्थावर घातके त्याग का आदेश—जिसको योग्य विषय प्राप्त हुआ है अर्थात् न्यायपूर्वक आजीविका करते हुएमें जो न्यायपूर्वक ठीक उपभोगके साधन प्राप्त हुए हैं ऐसे गृहस्थोंको त्रस हिंसाका तो त्याग करना ही चाहिये, पर स्थावर हिंसामें भी प्रयोजनभूत एकेन्द्रिय घातके सिवाय शेष स्थावरोंकी हिंसाका भी त्याग करना चाहिये। श्रावक त्रस हिंसाका तो पूरा त्याग करें और स्थावर हिंसाका प्रयोजनभूत स्थावर हिंसाके अतिरिक्त अन्य समस्त स्थावर हिंसा का परित्याग करें। जैसे भोजन बनानेका प्रसंग है। जल तो लाना ही पड़ेगा, अग्नि जलाना ही पड़ेगा, कुछ बनस्पति साग वगैरह लाना ही पड़ेगा। तो ऐसी जिनकी परिस्थिति है उनसे कुछ तो एकेन्द्रियका घात हुआ ही। होता है, हो पर इसके अतिरिक्त व्यर्थकी असावधानीके कार्यमें जो एकेन्द्रिय जीवकी हिंसा है उसका तो त्याग करें। जैसे बहुत-बहुत बाल्टियोंसे नहाना, नहाने में घण्टोंका समय लगाना, चलते-चलतेमें पेड़ पत्ती पौधोंका तोड़ना, अपना मन रमानेके लिए नाना तरहके फूलोंको तोड़ना अपना शौक बनानेके लिये खड़े हुए केलेके वृक्षोंको या अन्य वृक्षोंको मूलसे तोड़ना छेदना। कितने ही काम ऐसे होते हैं कि जिसके बिना काम तो सध सकता था, मगर साध नहीं रहा है। उसको कह रहे हैं कि भाई प्रयोजनीभूत स्थावर हिंसाके अतिरिक्त अन्य हिंसाओंका तो परित्याग कर ही दें क्योंकि एक अन्तरंग हिंसाके निभाने का प्रण किया है, तो उस प्रणके माफिक बाहरमें भी अहिंसा धर्मका पालन होना आवश्यक है।

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ।।७८।।

अज्ञानियोंके मौजी असंगत बर्तावको देखकर आकुल न होनेका उपदेश—धर्मसाधनाके प्रसंगमें कितनी ही बातें ऐसी देखनेमें आती हैं कि जिनमें चित्त श्रद्धासे डांवाडोल हो सकता है। एक मोटी बात यह है कि दिखताहै कि जो लोग हिंसा करते हैं, अटपट ढंगसे रहते हैं, संयमका नाम नहीं है, श्रद्धा भी नहीं है और मौज उड़ाते हैं, खूब धनिकों बनते हैं और नाना तरहकी उन्हें सरकारकी राज्यकी पदवियां प्राप्त हैं और उनका आचरण हिंसापूर्ण रहता है। जो लोग मांसभक्षण कर रहे हैं इससे बढ़कर और अन्यायकी बात क्या कही जाय ? लेकिन ऐसे लोग भी बड़े धनी तथा बड़े-बड़े ओहदोंपर देखे जाते है। तो ऐसी बातें देख करके कुछ श्रद्धा डांवाडोल न होनी चाहिए। ऐसे प्रसंगोंमें भी ज्ञानी पुरुष तो श्रद्धासे च्युत नहीं होता। प्रथम तो यह समझिये कि बाहरमें परिग्रहमें जितना फंसाव है, जितना उनमें रमन है, ढंग है वह सब एक विपत्ति है, विडम्बना है, आकुलता है, दुर्गतिका हेतुभूत है, अतएव उन अज्ञानी परिग्रही धनिकों को देखकर, बड़े नामवरी वाले, राज्यके बड़े पदों वाले पुरुषोंको देखकर उन्हें दयापात्र समझना चाहिये। वे ईर्ष्या करने योग्य नहीं हैं कि हमें भी उतना बड़ा बनना है क्योंकि वे स्वयं अशांत बन रहे हैं, ऐसे लोग तो दयाके पात्र हैं, न कि ईर्ष्याके पात्र हैं। उसी बात को इस गाथामें कह रहे हैं कि मोक्षके कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूप रसास्वादनको प्राप्त करके अब अज्ञानी जीवोंके अयोग्य बर्तावको देखकर व्याकुल न होना चाहिये, अपना धर्म न छोड़ देना चाहिये, चाहे ऐसे लोग भी दिख रहे हों कि जो धर्मकी ओर जरा भी दृष्टि नहीं देते और अधर्म, हिंसामें बड़ा प्रेम रखते हैं और फलफूल रहे हैं, सांसारिक दृष्टिसे तो ऐसे मूर्खोंको देख करके अपने चित्तमें व्याकुलता न करनी चाहिये कि देखो यह क्या है, हम तो धर्म के लिये बड़े-बड़े उपवास आदिक कर रहे हैं, सब कुछ करते हुए भी यहां तो यही हालत है, साधारण परिस्थिति है और वहां देखो क्या हो रहा है ऐसा अपनेमें आश्चर्य न करें और न धर्मसे च्युत हों। अरे पूर्वजन्ममें इनका भाव अच्छा था, उनसे पुण्यका बंध किया था, उसके उदयकालमें इतना मौज मान रहे हैं, पर यह मौज उनकी दुर्गतिका कारण है। उसको देखकर व्याकुल न होना चाहिये और ऐसी परिणति बनाना चाहिये कि जिससे आत्मधर्मके पालनका क्षण प्रतिक्षण उत्साह बढ़े। सारांश यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है कि मिथ्यादृष्टि जन यदि हिंसा धर्ममें ठहर रहे हैं और लौकिक सुखोंसे सुखी हो रहे हैं तो उनको यों देखकर अपने चित्तमें व्याकुलता न लायें।

अहिंसापालनके लिए अपना निर्णय और आचरण—भैया ! अपना यह निर्णय रखें कि शान्तिका मार्ग तो एक आत्मस्वरूपका जानना और उसमें रमण करना है, दूसरा कोई मार्ग नहीं। दूसरे किसी भी मार्ग में कुमार्गमें चलते हुए जो जीव मौज पा रहे हैं उनका वह मौज करना झूठ है, उससे उनका हित नहीं है, ऐसा समझकर अपने निश्चित किये हुये अहिंसा धर्ममें दृढ़तासे रहें और इसी निर्णय के साथ चलें कि हम अपने आपको कितना जान रहे हैं, कितना अपनी ओर रहते हैं, कितनी कषायें त्यागी हैं, कितना विवाद दूर किया है, कैसा उस चैतन्यस्वरूपमें हमारा प्रेम है ? ये सब बातें निरख कर बड़े यत्नपूर्वक अपने कार्यमें लगना चाहिये, दूसरे सम्पन्न पुरुषोंको देखकर आश्चर्य न करना चाहिये। जो अहिंसाव्रतके पालनेके इच्छुक हैं वे अन्तरंगमें निर्विकार चैतन्यस्वरूपके अवलोकनमें उत्सुक हैं। और व्यवहारमें जो जिस पदमें हैं उनके अनुसार अपनी अहिंसाको बनाये हुए हैं। उसका बाहरीरूप क्या बनता है, सो वर्णन चल रहा है कि त्रस हिंसाका तो श्रावक पूर्ण परित्याग करता है और स्थावर हिंसामें भी अप्रयोजनीभूत स्थावरोंकी हिंसाका परित्याग करता है और साथ ही इस लोकमें बड़े मौजमें रहते हुए अज्ञानियोंको, मांसभक्षियोंको, शिकारियोंको निरखकर अपने चित्तको डांवाडोल नहीं करता कि यह क्या मामला है, हम तो धर्म करते हुए भी उतनेके उतने ही पाये जा रहे हैं, यहां तो बड़ी रूखी स्थिति है और वहां वे अधर्मी देखो कितना मौजमें अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, ऐसा खेद ज्ञानी पुरुष नहीं करता। वह तो यह सब मायामयी समझता है, असत्य समझता है, उन जीवोंकी बरबादीका कारण समझता है, ऐसी प्रवृति होती है ज्ञानी पुरुषमें और वह अतरंगमें और बहिरंगमें अपने पदके अनुसार अहिंसाधर्म का पालन करता है। इसीमें यद्यपि सब कर्त्तव्य बसे हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये और किस रूपमें अपनी परिणति बनाना चाहिये ? एक अहिंसा ही धर्म है और हिंसा ही अधर्म है, यह बात अपने-अपने पदोंमें घटाना चाहिये और अहिंसाके पद पर चलना चाहिये और जैसे रागद्वेष मोह हटे वैसा ज्ञान करना चाहिये। वह ज्ञान है वस्तुके स्वरूपमें मग्नता का भान कराने वाला। उस तत्त्वसे प्रेम करें और अपने अन्तःसहज चैतन्यस्वरूपमात्र मैं हूं, ऐसी अपनी प्रतीति रहे।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९॥

धर्मार्थ हिंसनमें दोष नहीं है, इस कुबुद्धिकी भर्त्सना—धर्मका आधार अहिंसा है और सम्यक्चारित्रका आधार अहिंसा है। अहिंसाका अर्थ है रागादिक भावोंकी उत्पत्ति न करना। रागादिक भावोंके कारण इस आत्माके ज्ञानदर्शन प्राणकी हिंसा होती है अर्थात ज्ञानदर्शन विशुद्ध परिणमन नहीं कर पाता है। विभाव परिणामोंसे जो इस अन्तस्तत्वकी हिंसा है वह तो हिंसा हुई और रागादिक भावोंके न होनेसे आत्मामें जो अमित गुणविकास होता है वह सब अहिंसा है। विभावोंका न होना ही अहिंसा है। इस अहिंसा की पुष्टिके लिये प्रवृत्ति करने वाले जीवोंका कर्त्तव्य है कि वे ऐसी प्रवृत्ति रखें जिसमें भाव कलुषित न हों, लेकिन धर्मके नामपर अनेक लोगोंने ऐसी-ऐसी प्रवृत्तियां चलाई हैं कि जिनमें भाव भी कलुषित होते हैं और अनेक जीवोंका संहार भी होता है, वह सब धर्म नहीं है। ऐसा बताने के लिये अब कुछ गाथाएं कही जायेंगी। प्रथम गाथामें यह बताया है कि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भगवान्का धर्म तो अतिसूक्ष्म है उस धर्मके लिये हिंसा करनेमें दोष नहीं है। सो कुछ लोगोंका हृदय धर्ममुग्ध है, अन्धविश्वासमें है और वे धर्मके नाम पर हिंसा करते हैं। उन्हें समझाया गया है कि इस तरह धर्मविमूढ़ मत हो, अन्धविश्वासी न बनो। हिंसा हिंसा ही है, चाहे धर्मका ख्याल करके भी करे वह भी हिंसा हिंसा ही है बल्कि धर्मके नाम पर हिंसा करनेमें विशेष पापका बन्ध होता है, क्योंकि अज्ञानसे वासित चित्त अधिक है इस कारण हे शान्तिके इच्छुक पुरुष ! धर्म के लिये भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिये। जैसे एक रिवाज चल उठा है गांजा तम्बाकू पीनेका। भगवान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का नाम लें और भगवानका नाम लेकर कुछ दोहा भी बना डालते हैं शंकर हरिहर नाम लेकर। तो जैसे उन्होंने यह दृष्टि बना ली है दूसरे लोगोंमें बुरा न कहलवानेके लिये शंकरके नाम पर, शिवके नामपर गांजा, तम्बाकू आदि पीते रहते हैं, ऐसे ही कुछ लोग ऐसे हैं कि वे धर्म के नामपर हिंसा करते हैं। हिंसा हिंसा ही है। जहां परिणामोंमें राग-द्वेष आया, विकल्पों की होड़ मची वहां हिंसा ही है। हिंसा जीव खुद खुदकी करता है दूसरेकी क्या हिंसा करे? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन तो नहीं करता, तो हिंसारूप जो परिणाम है वह भी किसमें किया उस हिंसक ने? अपने आपमें हिंसाका परिणाम किया और अपने आपकी हिंसा की। धर्मके लिये भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिये।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥८०॥

देवताओंके लिये भी हिंसाका दोष—कुछ अज्ञानी लौकिक पुरुष ऐसा विचार रखते हैं कि धर्म तो देवताओंसे मिलता है इस कारण उन देवताओंको खुश करनेके लिये उन देवताओंको बलि दें, पशुओंकी बलि दें, पक्षियोंकी बलि दें तो यह तो धर्मका ही काम है ऐसा ही अज्ञानी जीवोंका विचार रहता है। यह दुर्विवेक है ऐसी बुद्धिके जो वशमें हैं वे प्राणी घोर आपत्तिमें हैं। देवताओंके लिये भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिये। व्यवहार विमूढ़ पुरुष ऐसा ख्याल करते हैं कि मुझे धर्म देवताओंसे मिलता है। अन्य अनेक ग्रन्थोंमें ऐसा लिख भी दिया है कि इन्द्रसे, ब्रह्मासे धर्म मिलता है। उन्हें धर्मके स्वरूपकी खबर ही नहीं है कि धर्म किसे कहते हैं? धर्म नाम है वस्तुके स्वभावका और इस प्रकरणमें धर्मनाम है आत्माके स्वभावका। आत्माका स्वभाव है चैतन्यभाव। वह चैतन्यतत्त्व न किसीके द्वारा किया गया है और स्वभाव दृष्टिसे यह चैतन्यतत्त्व रूप धर्म न किसी को उत्पन्न करता है। कार्यकारण भावसे रहित अनादि अनन्त सनातन एक रूप जो चिद्भाव है, वही आत्माका धर्म है। और ऐसे चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करना, तन्मात्र अपने आपको मानना, मैं चित्स्वरूप हूं, इस प्रकार की प्रीति करना, उपयोग बनाना यही कहलाता है धर्मपालन। यह धर्म पालन किसी अन्यसे नहीं मिलता। इस धर्मभाव को भूला हुआ पुरुष किसी ज्ञानीके उपदेशको सुनकर अपने हृदयमें यह निर्णय बनाता है और इस परम्परासे यह ज्ञानप्रकाश उत्पन्न करता है, उतने पर भी ज्ञानी पुरुषकी परिणतिसे यह दूसरा श्रोता ज्ञानी नहीं बना है। इस श्रोताने अपने आप में ही ज्ञानकी कला प्रकट करके ज्ञानका प्रकाश पाया है। धर्म किसीसे मिलता नहीं है। हां उस पुरुषको पूर्वमें जो साधन मिले, निमित्त मिले उनका आदर है, उनका बहुमान है, उनकी भक्ति है, उनका प्रसाद मानते हैं इस दृष्टिसे हम परमेष्ठियोंसे, साधुजनोंसे, ज्ञानी-जनोंसे हमें प्राप्त हुआ है, लाभ हुआ है, ऐसा हम व्यवहार करते हैं, पर वस्तुस्वरूपसे देखा जाय तो हमें जो धर्मलाभ हुआ है। वह हमारी परिणति से हुआ है। फिर ये लौकिकजनतो निमित्तका भी ख्याल न करके एक सीधा ही मानते हैं। जैसे कोई किसी को कपड़े देता है, पैसे देता है ऐसे ही मानते हैं कि देवताओंसे हमें धर्म मिलता है और इस आधारपर और देवताओंके स्वरूपका सही निर्णय न करनेसे, तथा देवताओंकी आवश्यकता समझ लेनेसे मान लेते हैं कि देवताओंके लिये पशु पक्षीकी बलि देना, प्राणियोंकी हिंसा करना यह धर्म है। ऐसे अनेक लोग जो कि धर्ममें धर्मके व्यामोहमें विमूढ़ हैं मानते हैं लेकिन प्राणियोंकी हिंसा हिंसा ही है और देवताओंके नाम पर हिंसा करे तो इसमें तो और अधिक मिथ्यात्व पुष्ट होता है। देवतावोंके लिये भी किसी कारणसे प्राणियोंका घात न करना चाहिये। एक यह आचारका प्रकरण चल रहा है और इसमें मूलमें कहांसे आचार शुरू करना चाहिये, ऐसा यह भूमिका रूप कहा जा रहा है। हृदय वास्तविक निर्णयको अंगीकार करले तो धर्मके लिये आचार सही बनता है। ८ मूल गुणोंका अभी वर्णन आया था उसका आधार भी अहिंसा है। अपने परिणामोंमें मलिनता न जगे और इसके फलस्वरूप बाह्यमें प्राणियोंका घात न हो, यही उन अष्ट मूलगुणोंका अभिप्राय है। धर्मके नाम पर लोकरूढ़िमें किस-किस प्रकारसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हिंसाओंमें धर्म माना जा रहा है ? इसका भी इस कथनमें दिग्दर्शन होता जा रहा है। मूर्ख पुरुष ऐसा भी ख्याल रखते हैं कि कोई अतिथि आये तो उनका सत्कार करनेमें जीव घात कर में कोई दोष नहीं है। देखिये यह कितना मूढ़ता भरा अभिप्राय है। अरे दूसरे जीवोंके प्रति कुछ भी दयाका भाव नहीं रखते। जिसे अपनी कुछ शुद्ध नहीं है उसे परका क्या ख्याल हो ? पूज्य पुरुषोंके लिए, अतिथिजनोंके लिये बकरा आदि जीवोंका घात करनेमें कोई भी दोष नहीं है, ऐसा विचार करके उनके लिये जीवों का घात करना यह तो एक महामूर्खता भरी बात है।

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥८१॥

अतिथिके निमित्त भी हिंसनमें हिंसाकादोष—अब कुछ तर्कवादियोंका वर्णन आ रहा है। कुछ लोग ऐसा कुतर्क करते हैं कि अन्न आदिकके आहारमें अनेक जीव मरते हैं तो उनके बदले एक बड़े भारी जीवको मार डालना, खा डालना अच्छा है, ऐसा एक उनका कुतर्क है, उन्हें जीवोंकी जातिका कुछ पहिचान ही नहीं है। एकेन्द्रिय जीवमें स्पर्शन, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास—ये चार प्राण होते हैं। एकेन्द्रिय जीवके शरीरमें मांस नहीं होता है। मांस के आधारमें अनन्त उस जातिके जीव उत्पन्न होते रहते हैं। मांस रहित चार प्राणों वाले एकेन्द्रिय जीवका शरीर होता है, दो इन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास, ये ६ प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय जीवके शरीरमें मांस होता है। त्रस जीवोंमें उनके शरीरमें मांस होता है। केवल एक भोगभूमियां देव नारकीके शरीरमें नहीं होता और परमौदारिक शरीर, आहारक शरीर इनमें मांस नहीं होता, शेष त्रस जीवोंके शरीरमें मांस होता है। घ्राणेन्द्रिय जीवोंमें ७ प्राण, इसमें नाक और बढ़ गई, चारइन्द्रियमें ८ प्राण नेत्रइन्द्रिय और बढ़ गई, असंज्ञी पंचेन्द्रियमें ९ प्राण, इसमें श्रोत्र और बढ़ गये तथा सज्ञी पंचेन्द्रियमें १० प्राण होते हैं वहां मनोबल और बढ़ जाता है। इस प्रकार इन जीवोंमें प्राणोंका विभाग है। तो कम प्राणों वाले जीवोंके घात में अधिक प्राणों वाले जीवोंके घातमें अधिक हिंसा है। यह एक प्राणकी ओरसे उत्तर हुआ और दूसरा अपनी ओरसे उत्तर देंगे तो अधिक प्राणों वाले जीवोंके घातमें इस शिकारीको संक्लेश परिणाम अधिक करना पड़ता है। अनेक एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंके घातसे या यों कह लीजिये कि अनन्त काय, अनन्त स्थावर जिसमें पाये जाते हैं ऐसी चीजों के भक्षणमें जो हिंसा होती है उससे असंख्यातगुनी हिंसा दोइन्द्रिय जीवों का घात करनेसे होती है। उसकी और इसकी सदृश्यता नहीं हो सकती कि अनेक स्थावर जीवोंके घात से गाय, भैंस, बकरी आदिक बड़े जीवका घात करले तो उसकी अपेक्षा अच्छा हुआ, ऐसी कोई तुलना नहीं है। एकेन्द्रिय जीवोंका शरीर मांसरहित है, चार प्राणों वाले हैं, उसकी तुलनामें एक बड़े जीवका मारा जाना अच्छा बताना मूर्खतापूर्ण कुतर्क है, तो ऐसा भी ख्याल करना योग्य नहीं है जैसे आजकल के लोग भी जो मांसभक्षी हैं वे ऐसा कुतर्क करते हुए पाये जाते हैं। वे ऐसा ही कुतर्क करते हैं। जीवोंकी जातिकी पहिचान करना और फिर उनकी हिंसा से हटना यह सब अपने आपकी सुध लेनेका वातावरण है, जिनका उपयोग जीवोंका घात करने में लगा है उनके उपयोगमें आत्माकी सुध लेनेकी योग्यता नहीं है। अहिंसाव्रत पालनेके लिए यह आवश्यक है कि जीवोंका घात न करें। किसी भी प्राणीकी हिंसा करना हिंसा ही है, उससे पापका ही बंध होता है। भविष्य में इन कुकर्मोंके कारण दुःख भोगना पड़ता है, जन्म मरणकी परम्परा ही बढ़ती है।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वार मेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

जङ्गम जीवके घातके लिये अज्ञानियोंका कुतर्क और उसका समाधान— कुछ लोगोंका ऐसा भी ख्याल होता है कि यदि एक ऐसे जीवके मार डालनेसे अनेक जीवों की रक्षा होती है तो उस हिंसक जीवका घात कर डालना चाहिये। इसका स्पष्ट आशय यह उन्होंने समझा कि जैसे सर्प, सिंह, चीता आदिक जानवर हिंसक हैं ये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दूसरोंको बाधा पहुंचाने वाले हैं तो इन्हें मार डाला जाय तो दूसरे जीवों को बाधा न रहेगी इससे मारने वालेको पाप नहीं है और पुण्यका ही बंध है ऐसा कुछ लोगोंका ख्याल है, लेकिन इस सम्बन्धमें दो बातों पर दृष्टि डालिए एक तो यह कि किसी भी जीवको मारते समय चित्तमें विकल्प और संक्लेश करना पड़ रहा है या नहीं, पाप तो संक्लेश और मलिन भावसे होता ही है। तो किसी भी प्राणी के मारनेमें संक्लेश करना पड़ता है। हिंसाका भाव मारने का परिणाम होता है उससे अशुबंध होता ही है। उसे मारकर हमें पापका उपार्जन किसलिए करना ? दूसरी बात यह सोचें कि संसारमें अनन्त जीव हैं, मिथ्यात्व के वशीभूत हैं, एक दूसरे के घातक हैं। हम यहां कहां तक निर्णय और कहां तक व्यवस्था बनायें कि यह जीव दूसरों को मारता है तो इसे मार डालें। अरे एक दूसरेके मारने वाले पड़े हुए हैं। सिंह अगर किसी पशु को खाता है तो वह पशु भी किसी को मारकर खाता है, वह भी किसी अन्य को। तो यों व्यवस्था कहां तक बनेगी, किस किसको मारनेका प्रोग्राम बनेगा ? इससे भी यह व्यवस्था उचित नहीं है कि एक जीवके मारनेसे बहुतकी रक्षा है तो उस जीवको मार डालें। हां गृहस्थावस्थामें विरोधी हिंसा जरूर होती है और उसका त्यागी गृहस्थ नहीं है। सिंह, चोर, डाकू कोई अपना प्राण लेने आया हो तो बचावके लिए उससे लड़भिड़कर प्रत्याक्रमण करके यदि कदाचित किसी जीवकी हिंसा हो जाये तो उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। इस विरोधी हिंसाका त्यागी गृहस्थी नहीं है, लेकिन जो ऊपर जितनी बातें हिंसाकी बतायी गई हैं वे सब संकल्पी हिंसा हैं। संकल्पी हिंसा ज्ञानी पुरुषके नहीं होती, तो ऐसा ही सोचकर कि एकके मारनेसे अनेककी रक्षा होती है इस कारण इस जातिके जीवको मारते रहनेका ही काम बनाये रहे, यह भी अहिंसा धर्मका मार्ग नहीं है।

रक्षा भवति वहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं न सिहनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

हिंसक जीवके हिंसनके लिये कुतर्क और उसका समाधान—कुछ लोग ऐसा भी विचार कर डालते हैं कि यह हिंसक जीव है बहुतसे प्राणियोंका घात करता है। यह ज्यादा दिन जिन्दा न रहे, नहीं तो ज्यादा पाप कमायेगा। इसे मार डालें तो इसमें पाप नहीं है, ऐसी वे अपने मन में दया समझते हैं। जैसे सिंह बहुतसे जीवोंको मारता है, बहुत पाप कमाता है, सिंह को मार डालें तो वह पापोंसे बच जायेगा और उसकी गति सुधर जायेगी, ऐसा सोचकर लोग उन जीवों पर दया करके उन्हें मार डालनेकी बात सोचते हैं किन्तु उनकी यह बात युक्त नहीं है। क्योंकि पहिली बात तो यह है कि इसमें कोई व्यवस्था बना ही नहीं सकता क्योंकि अनेक जीव अनेक जीवोंका भक्षण करते वाले हैं। दूसरी बात यह है कि उस प्राणी पर कोई क्या दया कर सकता। मार करके उसे पापों से कोई बचा सकता है क्या ? दया तो यह है कि जो संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है उसमें किसी प्रकार एक सम्यक्त्वका भाव आ जाव। जो जैसा स्वरूप है वह वहां उसकी समझमें आये, संसार के अनन्त दुःखोंसे बच निकलनेका साधन बने तो दया नाम इसका है, ये तो सब कल्पना की बातें हैं। जैसे कोई जीव दुःखी हो रहा है, तड़प रहा है और कोई सोचे कि इस तड़फते हुए को मार डालें तो इसका तड़फना मिट जायेगा। अरे उसका तड़फना और कौन मिटा सकता है ? वह मरकर जिस भवमें जायेगा उस भवमें दुःख पायेगा। अपने आपकी सुध संभालो, अपने आपकी हिंसाको बचावो। विकल्प मचाकर, परपदार्थोंमें दृष्टिलगाकर, परसे हित मानकर जो अपने आपके आत्मतत्त्व की हिंसा की जा रही है उसकी सुध लें। हिंसासे बचने का उपाय एकमात्र सम्यक्त्व लाभ है। जब तक जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती है तब तक वह अपनी हिंसासे दूर नहीं हो सकता। विषय कषाय और मोह भावोंको लादे रहना यह अपने आपकी कितनी बड़ी भारी हिंसा है ? विषय कषायों के प्रेमी पुरुष चाहे ऊपर से मौज मानते हों किन्तु वे अतरङ्गमें बहुत दुःखी हैं, बेचैन हैं, आकुलित हैं, कर्तव्यविमूढ़ हैं। मिथ्यात्ववश विषय कषायोंसे हित मानकर, अपना बड़प्पन समझकर मौज मानते हैं, यह उनकी खोटी बुद्धि है। सम्यक्त्वप्राप्तिके बिना जीवको कल्याण नहीं मिल सकता, शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। तो सम्यक्त्व लाभका साधन बनाना यही है वास्तविक दया। ये तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सब दयाके बहाने हैं। उक्त प्रकारके कुतर्क करके भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिये। श्रावकाचारमें मूलमें अहिंसाकी कुछ बातें बतायी जा रही हैं जिससे आगेका वर्णन स्पष्ट रहे कि अणुव्रत महाव्रत जो भी धारण किए जाते हैं उसमें क्या प्रवृत्ति होना चाहिये, क्या लक्ष्य होना चाहिये—ये सब बातें स्पष्ट हो सकें इसके लिए सर्वप्रथम ये हिंसा और अहिंसाके अनेक रूप बताये जा रहे हैं। इस सब वर्णनमें सारभूत वर्णन यह समझना कि जीव अपने आपके विषय कषाय परिणामों के द्वारा अपने आपके परमात्मास्वरूपकी हिंसा कर रहा है और कर ही सकता यह अपनी हिंसा। दूसरे की हिंसा वह दूसरा जीव अपने आपकी कुबुद्धिसे करता है, लेकिन जिसका परिणाम मलिन है वह मलिन परिणाम से प्रेरित होकर ऐसी प्रवृति करता है कि दूसरे प्राणियोंका प्राणघात कर डालता हैं। अतः द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों हिंसाओंका स्वरूप समझकर अहिंसक पुरुषको दोनों प्रकार की हिंसावों से बचना चाहिये और अहिंसक बनकर इस परम अहिंसककी उपासना करके उचित प्रकाशको दृष्टिमें लेकर अपसे अन्तः प्रसन्न रहना चाहिये, निर्मल रहना चाहिये और आत्मीय आनन्द का अनुभव कृतकृत्य बना लेना चाहिये। इतना ही सारभूत काम है, इसे कर लेना चाहिये। अन्य बाहरी-कामोंमें हाथ पैर पीटनेसे काम न चलेगा।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥८४॥

हिंसक जीवोंपर कृपाके लिये हिंसकोंके हिंसनका कुतर्क और उसका समाधान—धर्मपालनका आधार अहिंसा है। जहां अहिंसा है वहाँ धर्म है, जहां हिंसा है वहां अधर्म है। इस प्रसंग में बताया जा रहा है कि कोई पुरुष यदि ऐसा विचार करे कि यह हिंसक पुरुष बहुतसे जीवों को मारता है। यह हिंसक प्राणी बड़ा पाप बांधता हैं, इस हिंसक को मार दें तो बेचारे के पाप बच जायेगे। ऐसी दया करके हिंसकको मार देना चाहिये। ऐसा कुछ लोगों का ख्याल है, किन्तु यह बात धर्मसम्मत नहीं है। तुम किस-किस प्राणीकी व्यवस्था बनावोगे कि यह जीव हिंसक है, तुम कहां तक निर्णय बनावोगे कि यह जीव हिंसक है, यह बहुतसे जीवोंका घात करता है इस लिए इसे मार दो तो यह पापसे बच जायेगा। कहां तक ढूंढोगे और फिर यह तो एक बाहरी बात है। अन्तर की बात देखो जो जीव विषय कषायोंमें मग्न हो रहे हैं, अपने आपमें रागद्वेष मोह में मुग्ध हो रहे हैं वे तो निरन्तर हिंसा किये जा रहे हैं, उनका इलाज तुम क्या करोगे ? अपने आपकी बात सोचना चाहिये कि हमारे अहिंसा धर्म प्रकट हो। बाहरी व्यवस्था बनाकर कोई अहिंसक बातावरण बना ले अथवा हिंसाका परिहार करदे यह बात न बन सकेगी। यह निर्णय लेना कि ऐसा परिणाम बनावें, जिसमें अपने आपके परमात्मस्वरूपका दर्शन होता रहे और इसी बुनियाद पर बाहरमें दूसरे जीवों का सताना न बने। यह अहिंसा का वातावरण है। जिसका लक्ष्य विशुद्ध होगा वह पुरुष किसी भी अवस्था में हो अपने पद के अनुसार ऐसा ही व्यवहार रखेगा जिससे बाहर भी अहिंसा हो और अतरङ्गमें भी अहिंसा हो। अहिंसाको परमधर्म बताया है और बताया है कि जहां यह धर्म है, जहां यह अहिंसाहै वहां नियम से विजय है ? उसका भाव यह है कि अपना परिणाम विशुद्ध रखना, निर्मल सो अहिंसा है, यही धर्म है। जो अपना परिणाम निर्मल बनायेगा उसकी नियमसे विजय होगी। तो अहिंसासे विजय ही है इसमें किसी भी प्रकारका संदेह नहीं है।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तम्।
इति वासना कृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥८५॥

शीघ्र दुःख दूर करनेके आशय से दुखियोंको मार डालनेका कुतर्क और उसका समाधान—अहिंसा के प्रकरण में अनेक प्रश्न उठाकर उनका समाधान दिया जा रहा है। यहां एक प्रश्न किया गया अथवा एक ऐसा तर्क उठाया गया कि भाई कुछ जीव ऐसा दुःखी होते हैं रोग से, दरिद्रता से जो भूखे प्यासे अपना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गुजारा किया करते हैं ऐसे पुरुषको यदि तत्काल गोलीसे मार दे तो उसका दुःख दूर हो जायेगा ऐसा कुछ लोग ख्याल करते हैं लेकिन उनका यह विचार धर्म सम्मत नहीं है। अधर्म की बात है, क्योंकि एक तो ऐसा नियम नहीं है कि शरीर से जीव छूट जाय, एक शरीर से जीव निकल जाय तो आगे उसे दुःख न होगा। जिस जीवने जैसा कुछ पाप कमाया है उसके उदयानुसार उसे फल भोगना होगा। मरकर आगे जायेगा उसे भी उस उदय के अनुसार दुःख भोगना होगा। उसका वह दुःख तब दूर होगा जब कर्मों से छुटकारा होगा और वह दुःखोंसे तो छूटेगा नहीं, लेकिन यह अज्ञान भरा भाव बनानेसे और दूसरेके प्राणोंका घात करने से जो हिंसा हुई है वह हिंसा बराबर रह जायेगी और देखिये नरकगतिके जीव तो चाहते हैं कि मेरा मरण हो जाय क्योंकि वहां अतिशय दुःख हैं। सो उनके चाहने से उनका मरण नहीं हो जाता। वहां तो आयु पूरी भोगनी पड़ती है, चाहे देहके तिल-तिल बराबर खण्ड हो जायें, फिर भी वे पारेकी तरह मिलकर फिर शरीर बन जायेंगे। वे बीच में नहीं मरते, देव भी नहीं मरते और वे चाहते भी नहीं कि मेरी मृत्यु हो जाय। बल्कि देव तो यह चाहते हैं कि मेरा जीवन अत्यन्त लम्बा रहें क्योंकि बड़े सुख में हैं मनुष्य और तिर्यञ्च कोई यह नहीं चाहते कि मेरा मरण हो जाय, चाहे कैसी ही परिस्थिति हो। किसी घरमें एक बुढ़िया थी, बहुत दुःखी थी, उसके लड़के पोते सुखसे नहीं रखते थे, भूख प्यासकी भी बात नहीं सुनते थे, शरीर से भी बहुत शिथिल हो गयी थी। वह सुबह शाम रोज भगवानसे यह प्रार्थना करती थी कि हे भगवान् ! मुझे उठा लो अर्थात् मेरी मृत्यु हो जाय। कुछ दिन बाद एक बड़ा भयंकर सर्प निकला तो बुढ़िया चिल्लाकर कहती है—अरे नाती-पोतों ! दौड़ो मुझे सर्पसे बचावो। तो कोई नाती कहता है—अरी बुढ़िया मां तू तो रोज-रोज सुबह-शाम भगवान से प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान, मुझे उठालो, सो भगवान ने आज तेरी प्रार्थना को सुना है। तो दुःखकी कैसी ही बात आये पर मरना कोई नहीं चाहता है। कोई मरना भी चाहता है तो उसके प्राण घातके समय उसे बड़ी बेचैनी होती है, उसमें वह बहुत अधिक पाप कमा लेता है, इस कारण ऐसा न सोचना चाहिए कि यह जीव बड़ा दुःखी है, इसको मार डाले तो यह दुःखसे छूट जायेगा। अपना परिणाम निर्मल रखिये और जहां तक बने दूसरेके सुखसाता में सहयोग दीजिये, पर किसी भी आधार पर किसी दूसरे जीवके प्राण का घातकर देना, यह धर्म नहीं है।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६॥

सुखस्थोंको मारने से ये सुखी रहेंगे, इस आशयसे सुखियोंको मार डालनेका कुतर्क और उस का समाधान—इस प्रसंगमें वे सब विचार बताये जा रहे हैं कि जिनको करके लोग ऐसा मान बैठते हैं कि यह अहिंसा है और यही धर्म है। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि सुखकी प्राप्ति बड़े कष्ट से होती है। बड़ी-बड़ी तपस्यायें करते हैं, नियम संयम समाधि धारणा बड़ी-बड़ी तपस्यावोंके बाद सुखकी प्राप्ति होती है। और कोई जीव यदि ऐसे सुखमें हो और ऐसे सुखमें रहने वाले उस जीवको मार डाला जाय तो उसे सुख ही सुख मिलेगा इसलिए जो सुखमें हो उसे मार डालना चाहिए, ऐसा लोग अपना कुतर्क रखते हैं। उनका मतलब क्या ? तो सीधे शब्दोंमें यह समझलें कि जैसे कोई त्यागी व्रती मुनी साधु ऊंचा तपस्वी योगी अगर बड़े ध्यानमें स्थित है, बड़ा आत्मीय आनन्द भोग रहा है तो फिर उसका सिर काट दो तो वह उसी आनन्दमें बना रहेगा ऐसा कुछ लोग कहते हैं। धर्मकी बात नहीं कही जा रही है। उनका यह विचार बिल्कुल व्यर्थका है, क्योंकि सुख तो सत्य धर्मकी साधनासे होता है। अथवा यों समझिये कि उनका यह भी विचार है कि जो वर्तमानमें बहुत सुख सम्पन्न हैं, धन वैभव भी अधिक हैं, बड़े सुखमें अपना जीवन बिता रहे हैं, यदि ऐसा कोई भोगी गृहस्थ भी हो तो उस मौज में रहने वाले को भी मार दो तो शायद सुखमें रहा करेगा ऐसा सोचना मूर्खतापूर्ण बात है क्योंकि सुख तो होता है अपने आपके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्माके दर्शनसे, परमात्मा की भक्ति से। परमेष्ठीके गुणानुवाद से। उससे ही आत्मीय आनन्दकी झलक होती है, वह जिसके हुआ वह ठीक है और ऐसा भी नहीं है कि कोई यदि ऐसे धर्मध्यान में संलग्न है और उसका घात कर दिया जाय तो धर्मध्यान चलता रहेगा। प्राणघात का एक ऐसा हिंस्य काम है कि प्राणघातके समय वह सब भूल जाता है और एकदम उपयोग बदल जाता है तो उसको सुख कहाँसे होगा ? अहिंसाके बारेमें जितने कुतर्क उठाये जा सकते हैं वे सब कुतर्क पेश कर करके अमृतचन्द्राचार्य उनका समाधान दे रहे हैं। सबका समाधान इतना है कि अपने परिणामों को विशुद्ध रखें, किसी दूसरे जीवोंके प्राणोंका घात न करें, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, ये हिंसा कहलाते हैं, इनसे बाहर हटें और अपने आपमें जो अपना विशुद्ध ज्ञानस्वरूप बसा हुआ है उसका उपयोग रखें और आत्मीय आनन्द से तृप्त रहें। यही परम अहिंसा है। इस गाथा में इस बातसे सावधान किया है कि ऐसा ज्ञान मत बतावों कि कोई जीव यदि सुखमें है, बड़े मौज में रह रहा है तो उसे मार डालो तो शायद उसके मौज ही मौज बना रहेगा। प्राणघातके समय वह संक्लेश परिणाम करेगा तो दुःख पायेगा, ऐसा अज्ञान भरा विचार बनाना ये सब मिथ्यात्वकी बातें हैं।

उपलब्धिसुगतसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलाषिता ॥८७॥

समाधिस्थ गुरुको मार डालनेसे ये उच्च पद प्राप्त कर लेंगे इस आशयसे सिर काट डालनेका कुतर्क और उसका समाधान—एक कुतर्की पुरुष ऐसा विचार कर रहा है कि ये गुरु महाराज, ये योगीश्वर बहुत कालसे समाधिका अभ्यास करते आ रहे हैं उस अभ्यास में इनके समाधि भी प्राप्त हो रही है और ये समाधि में मग्न हो रहे हैं, ऐसे समयमें इन गुरुराजका यदि प्राणान्त कर दिया जाये तो ये बहुत ऊंची गति प्राप्त कर लेंगे, ऐसा मिथ्याश्रद्धान करके कहीं गुरुओं का शिर मत काट देना। अहिंसाके बारे में बहुत-बहुत तरहके विचार उठा रहे हैं। देखिये उन गुरुराज ने जो कुछ साधना की है उसके फलमें वे अपने आप निकट भविष्यमें उच्च पद प्राप्त करेंगे, फल पायेंगे। ऐसे समयमें उनके शिरका छेदन कर देनेसे उनका उपयोग बदल सकता है, समाधि भंग हो सकती है। दुर्गतिमें चले गए तो उन्हें क्या लाभ पहुंचाया दूसरे जो प्राणघात करता है वह खुद हिंसा का भागी होगा। यह तो पाप बंध ही करेगा। अहिंसा है अपने आपके विशुद्ध चिदानन्दस्वरूपके दर्शन करने में उसमें ही अपना उपयोग स्थिर रखनेमें। ऐसा कोई गुरु यदि कर रहा हो तो अपनी समाधिके प्रतापसे ही वह शरीरसे मुक्त हो जायेगा। वह तो पथकी बात है पर कोई किसी का सिर छेदन करदे तो उसमें न हिंसकका भला है और न जिसकी हिंसा की गई है उसका भला है। हिंसा और अहिंसा तो परिणामों पर निर्भर है, यदि विषय-कषायोंसे भरे हैं, पांच प्रकार के पापों से भरे हैं तो हिंसा है और इनसे विरक्त होकर एक अपने आपमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके उपयोगरूप रहेंगे तो यही है अहिंसा और भी कुतर्कियोंका कुतर्क सुनिये।

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपिटकानाम् ॥८८॥

लुब्ध अज्ञानियोंका शरीरवियोग करनेमें मोक्ष बतानेका कुतर्क और उसका समाधान—कुछ कुतर्की ऐसा तर्क पेश करते हैं कि जैसे घड़ेमें कोई चिड़िया बन्द है और घड़ेको फोड़ दिया जाय तो चिड़िया उड़ जायेगी, स्वतन्त्र हो जायेगी, सुखमें आ जायेगी, ऐसे ही यह आत्मा इस शरीरमें दबा हुआ है, शरीरमें बन्द है तो शरीर फोड़ दिया जाय याने शरीर को काट दिया जाये तो यह आत्मारूपी चिड़िया शरीर से अलग होकर सुखी हो जायेगी। इसलिए जिस चाहे जीवको ऐसी दया करके मार डालना चाहिये ऐसा कुछ लोग कुतर्क रखते हैं, खोटे विचार रखते हैं और देखो इस ही विचारधाराको ही वे लिए थे जो शायद अब तो नहीं करते हैं, जैसे काशी करौत और ओंकारेश्वर में एक ऊंची जगह बना रखी है जहांसे सीधे नीचे चट्टानोंपर गिरते थे, सुनते कि वहां से ऊपरसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पटककर धक्का दे दिया जाता था और नीचे चट्टान पर गिरकर मरण हो जाता था, उससे लोग समझते थे कि अब मरने वाला मुक्त हो गया। ऐसे ऐसे स्थान निकट पूर्वमें बने हुए थे जो स्थान अब भी दिखते हैं, इस प्रकार धर्म के नाम पर मनुष्यों को मारा जाता था और वे मनुष्य अज्ञानवश धर्म के नाम पर मरने के लिये तैयार हो जाते थे। कोई पंडा किसीको जबरदस्ती न पटकता था किन्तु धर्मके आवेश में आकर मिथ्या श्रद्धानसे खुद जाकर उन पंडोंसे प्रार्थना करते थे कि मुझे इस शिलासे पटकर मारकर मुक्त करा दो। इस तरह उनका प्राणान्त किया जाता था, उसमें वे अपनी मुक्ति समझते थे। आचार्यदेव कहते हैं कि यह बिल्कुल मिथ्या श्रद्धान् है, मूर्खता भरा अभिप्राय है। यह तो थोड़ेसे धनकी चाह रखने वाले पुरुषोंने एक प्रोपेगंडा किया है और इस तरह मारने की प्रक्रिया बनायी है क्योंकि वे यात्री लोग जो धर्म तथा तीर्थके लिए निकलते थे वे किसी आवेशमें आकर यह चाहने लगे कि झट मेरी मुक्ति हो जाय, झट मैं भगवानके पास पहुंच जाऊं। इस अभिप्रायसे वे पंडोंको दान दक्षिणा देते थे अपनी मुक्तिके लिये और उन्हें मार डाला जाता था। यह कोई धर्मकी बात न थी। यह तो थोड़ा पैसोंके लालची पुरुषोंने ऐसा ढोंग रच रखा था। वह तो महापाप वाली बात है। ऐसा विश्वास करके हारपटिक मतके ढंगसे शरीरके छुटानेका निषेध किया है कि इस तरहसे अपने प्राण घात मत करो। इसमें तकलीफ होती थी। पर्वतसे गिरकर मरते समय आप अंदाज लगा सकते हैं कि वे कितना तड़प-तड़पकर संक्लेशमें मरने वाले प्राणी क्या सद्गतिको प्राप्त कर सकते हैं? कदापि नहीं। अहिंसाका स्वरूप ही विलक्षण है और मूलमें तो यह बताया है कि संकल्प-विकल्प, रागादिक पापोंके अभिप्राय उत्पन्न न हों, उसका नाम अहिंसा है। तो इस प्रकार भी अपने प्राणों का घात न करना चाहिये।

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥८९॥

देखिये एक दयालु बन करके अपनी बात रख रहे हैं। यह अज्ञानी जीव कहता है कि कोई मांस भक्षण करने वाला पुरुष मांसकी याचना करने आये उसे मांस दे दो। यदि अपने शरीरका मांस काटकर देना भी पड़े तो दे देना चाहिये। यह दान है यह अहिंसा है—ऐसा मानता है वह अज्ञानी पुरुष। आचार्यदेव कहते हैं कि यह भी बहुत बड़ा भूल भरा ख्याल है। एक तो जो मांसकी याचना करे कि मुझे मांस दे दो, ऐसी याचना करने वाला पुरुष पापी है, दानका पात्र नहीं है, उसकी बात सुनना काबिल नहीं है, दूसरे मांस का दान देना यह शास्त्रमें नही बताया है, धर्मसे वहिर्भूत काम है। तीसरी बात यह है कि जिसने अपने आपका घात किया, अपना मांस निकाला, अपने को संक्लिष्ट बनाया वह तो स्वयं पाप बन रहा है। ऐसे प्रसंग में कोई मांसकी भिक्षा चाहे और यह दयामें आकर अपने शरीरका मांस दे दे तो ये सारी विडम्बना की बातें हैं।

मांसभक्षी पुरुषकी क्षुधा मेटने लिये अपने देहका मांस दान करनेका कुतर्क और उसका समाधान—जो याचना करने वाला है वह भी पापी है और जो मांस-खण्डनका दान करने वाला है वह भी पापी है। अहिंसा के प्रसंगमें मुख्य तो यह बताया है कि भाई सर्वपापोंसे रहित, सर्वविकारोंसे परे जो अपने आप वह सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, जो परमात्मतत्त्व है, जो समस्त आकुलताओं से परे है, परमहितरूप है ऐसे इस अंतस्तत्त्वके, कारणपरमात्मात्त्वके इस समयसारके दर्शन करिये और इसमें ही उपयोग लगाकर आत्मीय आनन्द अमृतरसका पान करते रहिये। यह एक परम अहिंसाकी बात है। ऐसी मूलमें बात रखकर फिर चूंकि व्यवहारीजन हैं, एक इस भवमें पड़े हैं, गृहस्थावस्थावमें हैं, भूख प्यास की वेदना नहीं सह सकते। तो ऐसे व्यवहारमें रहने वाले जीवोंको क्या उपदेश किया जाय जिससे उनके यह पात्रता बनी रहे कि वे इस कारण समयसारका जब चाहे दर्शन कर सकें और मोक्षमार्गसे भ्रष्ट न हो सकें, ऐसी दया करके आचार्य महाराज श्रावकधर्मका व्याख्यान कर रहे हैं। श्रावकका आचरण कैसा होना चाहिये? अहिंसा की पूर्ति वाला उनका आचरण होना चाहिये। जब एक अहिंसा

की प्राप्तिका उद्देश्य बनाया है तो जब जब व्यवहारमें हों तब तब हमारा ऐसा व्यवहार हो जो अहिंसाके प्रतिकूल न हो। इसी कारण बात यहां से प्रारम्भ की है कि सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि मद्य, मांस, मधु और पंच उदम्बर फल इनका त्याग होना ही चाहिए। इसके बाद फिर कुछ ऐसे कुतर्कोंका खण्डन किया है जो लोग मानते हैं और अपने धर्म से च्युत होते हैं। वे समझते हैं कि हमने धर्मका पालन किया, जैसे देवतावों को बलि चढ़ाना, अतिथियोंको मांस खिलाना, दुःखी जीवों को मार डालना, सुखी जीवों को मार देना, समाधिमें मग्न हुए को मार देना, ऐसी अनेक बातों में जो भ्रमवश धर्म मानते हैं और अपने पर दूसरों पर अन्याय करते हैं उनका समाधान किया है कि इस प्रकार अपनेको उन खोटे विचारोंसे बचना चाहिये और परम अहिंसा भावमें आना चाहिये। इस तरह कुछ कुतर्कोंका खण्डन करते हुए यहां तक बहुत सी बातें आचार्यदेवने बताई कि अहिंसा व्रत चाहने वालेको अपना कैसा व्यवहार रखना चाहिये, कैसी प्रवृत्ति रखना चाहिए? एक बात खास यह है कि अपना यह भाव आना चाहिए कि मेरा हित कैसे हो? इस दुनियामें मुझे कुछ नहीं जताना है, मुझे कुछ नहीं बनना है, कोई मेरी बात मान जाय, इससे मुझे कुछ नहीं मिलता। मेरा हित कैसे हो? इन कर्मोंसे प्रेरे गए संसारमें भ्रमण करने वाले इस मुझ दीन संसारी पर्यायोंमें रहने वालेका हित कैसे हो? मूल में यह बात रखें, बाहरकी और सब विडम्बनाओंको छोड़ें। यह बात चित्तमें रहेगी तो सर्वसम्पत्तियां प्राप्त होंगी और सम्पन्नता रहेगी। श्रोता वही वास्तविक है जिसके चित्तमें यह भाव हो कि मेरे आत्मा का हित कैसे हो? मुझे तो उसी उपदेश को सुनना है कि चैतन्यस्वरूप क्या है और उसमें मुझे कैसी दृष्टि लगानी चाहिये? मैं अपने उपयोग को कहां ले जाऊं जिससे मेरे आत्माका हित हो। आत्माका हित हो वही वास्तविक अहिंसा है, वही निर्विकल्प रहने का उपाय है। तो निर्विकल्प रहने का उपाय आचार्यदेव बतला रहे हैं, हमें उस उपाय से चलना चाहिये और अपनी हित-साधना करनी चाहिये।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥६०॥

ज्ञानी गुरुओंकी उपासना करके धर्मरहस्यके ज्ञाता पुरुषोंके अहिंसासम्बन्धमें मूढ़ता का अभाव— अहिंसा और हिंसाके सम्बन्धमें जो बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसको सुनकर अनेक नयके अनभिज्ञ पुरुषोंको आश्चर्य और शंकाएं हो सकती हैं। उन समस्त वर्णनोंको यदि नयोंके ज्ञानपूर्वक समझा जाय तो उसमें संदेहका कोई स्थान नहीं है। अहिंसा और हिंसाका मूल स्वरूप यह है कि राग द्वेष मोह परिणाम न होना सो अहिंसा है और राग द्वेष मोह परिणाम होना सो हिंसा है। अब इस मूल निरूपणके अनुसार बाह्यमें जो हिंसायें होती हैं, द्रव्यहिंसा चलती हैं उनका वर्णन करना चाहिये और इस विधिसे अनेक बातें ये सिद्ध होती हैं। जो अपने अंतरङ्ग परिणाममें अहिंसक है कदाचित् उसकी देह प्रवृत्तिसे किसी कुंथु जीवके प्राणका घात भी हो जाय तो वह हिंसा नहीं होती। कोई पुरुष अतरङ्ग परिणाममें सावधान नहीं है और अयत्नाचाररूप प्रमादके अवस्थामें गमन कर रहा है, चाहे कोई जीव उसके चलनेमें न भी मरे तो भी हिंसा है। हिंसाका जहां परिणाम किया है, चाहे प्राणों का घात न भी हो तो भी हिंसा हो जाती है। कोई हिंसामें प्रवृति करता है उसको भी हिंसा है और कोई हिंसाका त्याग नहीं किये है तो भी हिंसा है। कोई पुरुष हिंसा नहीं भी कर पाता है लेकिन परिणाम होनेके कारण हिंसा न करके भी हिंसाके फलको भोगता है और जिसके परिणाममें हिंसाका परिणाम नहीं है बल्कि दया का परिणाम है उसके शरीरसे हिंसा हो जाय तो भी हिंसाका फल नहीं मिलता। देखिये सब वर्णनों में आधार को न छोड़िये। राग द्वेष मोह परिणाम होना हिंसा है और रागादिक भावोंकी अनुत्पत्ति अहिंसा है। कोई जीव थोड़ी भी हिंसा करता है और समय पर उसे बड़ी हिंसा का फल भोगना पड़ता है। कोई जीवसे बड़ी हिंसा भी होती है पर उदयकाल में थोड़ी ही हिंसाका फल भोगना होता है। ये सब बातें कही जा रही हैं मौलिकतास्वरूपका विरोध न करके। एक साथ कई जीवोंने कोई हिंसा की, किसीको हिंसा का बड़ा फल मिला और किसीको हिंसाका अल्प फल मिलता

है। कोई जीव हिंसा नहीं कर सका, पर फल पहिले ही भोग लेता है। हिंसा एक करे फल बहुत भोगें, बहुत मिलकर हिंसा करें, फल एक भोगे, इस प्रकार अनेक बातें जो अज्ञानी जनोंको ये शंका और आश्चर्यका कारण बनती हैं, किन्तु नयों के मर्मको जानने वाले गुरुवोंका उपदेश पाकर जो निर्मल बुद्धि वाले विशुद्ध श्रोता हैं उनमें मोह नहीं प्राप्त होता अर्थात् जिन वचनोंमें कोई कुतर्क अथवा उल्टी बातका ग्रहण नहीं करते।

तदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
यदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१॥

असत्यका मौलिक स्वरूप और असत्यके भेद—जैसे हिंसा नामक पाप तो हिंसा है ही, पर झूठ बोलना चोरी करना, कुशील सेवन करना, परिग्रह में बुद्धि रखना, संचय करना जैसे सब पाप भी हिंसा पाप हैं। लोगोंको प्रकृति भेद बतानेके लिये ५ भेद बताये हैं, वस्तुतः ये पांचों पाप हिंसा हैं, क्योंकि आत्माके परिणामोंकी हिंसा इन पाप कार्यों में होती है। तो हिंसाका वर्णन करके अब यह झूठ नामक पापका वर्णन चल रहा है कि कुछ भी परिणाम कषायके योगसे जो एक और परकी हानि करें ऐसे जो वचन बोले जायें वे झूठ समझना और वह झूठ बोलने नामक पापके ४ भेद बताये गये हैं। मुख्य बात तो जैसे कि अन्य लोगोंने भी कहा है कि १८ पुराणोंमें सारभूत बात क्या है कि परोपकार पुण्य के लिये है और पर-पीड़ा पापके लिए है, थोड़ा उसमें यह और मिला लीजिए कि अपना और परका उपकार यह तो पवित्र है, धर्मरूप है और अपने और पराये दोनोंका नुकसान पहुंचाना यह पाप रूप है। जिस वचनमें अपनी भी हानि है, दूसरे की भी हानि है वे वचन असत्य कहे जाते हैं। असत्य शब्दका अर्थ है जो सत्य नहीं है। असत्य बोलने वाला कितना घातक है, कितना अविश्वासी है, कितना धोखा देने वाला है? इस सम्बन्ध में सभीको अनुभव होगा। यों समझिये कि असत्यवादी भी घात करने वाले शिकारी जनोंसे कम नहीं है। अनेक प्रसंग आपने सुने होंगे, देखे होंगे अथवा अनुभव किया होगा कि किसी एकके असत्य बोलनेसे प्राणों पर क्या गुजरती है। जो लोग झूठी गवाही देते हैं, दूसरे की झूठ बात बोलते हैं, निन्दा करते हैं उनका हृदय कितना क्रूर होता है और ऐसे क्रूर पुरुषमें धर्म समा सकता हो, इसकी सम्भावना कौन कर सकता है। क्रूर चित्त में धर्मकी बात उस तरह नहीं समाती जिस तरह माला के टेढ़े छिद्र वाले दानेमें सूत नहीं पिरोया जा सकता। जिनका हृदय टेढ़ा हो गया है, कपटी हो गया है, मायाचारसे भरा हुआ है अतएव क्रूर हो गया है ऐसे पुरुषके हृदयमें धर्म नहीं समा सकता। असत्यवादियोंमें ये बातें प्रकृत्या आ जाती हैं। झूठ बोलने वाला क्रूर होता है, मायाचार परिणामसे भरा हुआ होता है, हठी होता है, दुराग्रही होता है, ऐसे पुरुषमें धर्मवासना नहीं आ सकती। वह पुरुष अपनी हिंसा किए जा रहा है। भगवान कारणसमयसार अरहंत सिद्धकी तरह अनन्तचतुष्टयका धनी वह स्वयं है। इसकी हिंसा हो रही है, बरबादी हो रही है। अनुचित वचन भी हिंसा है, इसके चार भेद बताये जा रहे हैं जिनका लक्षण आगे कहेंगे। चार भेद यों समझिये कि चीज तो है नहीं और है कह देवे, यह पहिला झूठ है। चीज तो है और नहीं है ऐसा कह देवे, यह दूसरा झूठ है। चीज तो और कुछ है, बताना और कुछ, यह तीसरा झूठ है और चौथा झूठ है जो वचन निन्द्य हों, पापोपदेशक हों, और अप्रिय हों वे भी असत्य हैं और यह असत्य चौथे प्रकारका है। इसमें अब पहिले प्रकारके असत्यकी परिभाषा करते हैं।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

सन्निषेधनामक असत्य वचन—जो पदार्थ अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे विद्यमान है उसका निषेध किया जाय कि नहीं है वह असत्य है। जैसे किसीसे पूछें कि भाई घरमें देवदत्त है क्या? है तो लेकिन कोई कहदे कि देवदत्त नहीं है, यह असत्य हो गया। इसको क्या ज्यादा समझना। लोकमें इन सब असत्योंका खूब भली प्रकार प्रचार है। जो पदार्थ है उस पदार्थमें न कर देना, यह प्रथम असत्य है। देखिये प्रमाद कषायके सम्बन्ध वाली बात है यह।

http://sahjanandvarnishastra.org/

वहां अनेक बातें युक्तियोंसे सोच सकते हैं कि जिनका अभिप्राय अच्छा है और कदाचित् है को न करना पड़े तो अभिप्राय अच्छा होने से उसमें असत्यका दोष न होगा या पद माफिक कम दोष होगा। जैसे एक घटना बहुत प्रसिद्ध कही जाती है कि कोई शिकारी किसी गायको बध करने के लिये ले जा रहा था, गाय उसके हाथसे छूट गई और गायने बहुत वेगसे दौड़ लगाई। गाय बहुत दूर निकल गयी। वह शिकारी पीछा किए दौड़ा जा रहा था। कोई एक श्रावक रास्ते में बैठा था, उससे शिकारी ने पूछा कि यहांसे कोई गाय निकली है ? तो श्रावक पहिचान गया, उसके हाथमें छुरी थी, उसके कटाक्ष बुरे थे। उसका आशय जानकर वह श्रावक बोल गया कि यहांसे तो नहीं निकली। देखिये है को न कहा, मगर उसके आशयको तो सोचिये। इसी प्रकारकी और भी बातें हैं कि है को न कहने पर भी झूठ का कम दोष लगता होगा। बच्चे लोग खूब पैसा मांगते हैं, पर जेबमें पैसा पड़े होने पर भी कह देते हैं कि नहीं है पैसा। तो इसमें कोई आशय बुरा नहीं है, इस कारण झूठका कम दोष लगता होगा। कोई आपसे दो हजार रुपया उधार मांगे पर आप कह दें कि इस समय हमारे पास रुपया नहीं है, अरे है क्यों नहीं ? ४०—५० हजार तो जमा हैं पर आपका चूंकि यह अभिप्राय है कि हमें देना नहीं है क्योंकि इससे वापिस न आयेंगे तो आप झूठ बोल देते हैं, पर इसमें ज्यादा झूठ बोलनेके दोष वाली बात नहीं है। झूठका दोष कम लगे, ज्यादा लगे, यह बात एक आशय पर निर्भर है। कुछ लोग झूठ बोलने का परिणाम न होते हुए भी झूठ बोलते हैं। कोई बाबूजी अपने घरमें बैठे हुए देख रहे थे कि घर के सामने से कोई सेठ आ रहा है, उसका इन बाबूजी पर कुछ कर्ज था। बाबू जी तो घरके भीतर चले गए और अपने बच्चेसे कह दिया कि अगर कोई हमें पूछे तो कह देना कि बाबू जी यहां नहीं हैं, बाहर गए। जब सेठने उस बच्चेसे आकर पूछा कि बाबू जी कहां हैं ? तो वह लड़का उत्तर देता है कि बाबू जी यहां नहीं हैं, बाहर गए। तो सेठ ने फिर पूछा—अरे तो बाहर कहां गए ? तो लड़का कहता है अच्छा ठहरो, मैं अभी बाबू जी से पूछकर आता हूँ और इसका भी उत्तर देता हूं। उसे पता ही नहीं कि यह झूठ बोलना कहलाता है। वह तो आज्ञाकारी था, आज्ञा मानता मानता जा रहा था तो पाप के प्रकरणमें परिणामोंकी बात देखना चाहिये। कभी कोई बच्चा छत पर खेलता हो और छतकी मुरेड़ पर चलता हो या बहुत ऊंचा उठकर बाहर निरखता हो तो वहां तो उस बच्चेके बाहर गिरनेकी सम्भावना है ना, तब मां को गुस्सा आता है और कहती है नासका मिटा, होते ही न मर गया, कई बातें बोलती है क्योंकि वह मरनेके तो उपाय बना रहा है, सो ऐसा बोलकर भी मां के चित्तमें उस बच्चेके मरनेका परिणाम है क्या ? प्रेम ही है। प्रेमके कारण वह ऐसा बोल रही है। तो सर्वत्र परिणामोंकी प्रमुखता है। यह पहिला असत्य है कि चीज तो है और उसका निषेध किया जा रहा हो। अब दूसरा असत्य सुनिये।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रककालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः।।९३।।

असत्यविधिनामक द्वितीय असत्यवचन— जहां जो चीज नहीं है वहां उस चीज को 'है' कह देना, यह असत्यका दूसरा भेद है। पहिले असत्यका नाम था सत्यनिषेध और इस दूसरे असत्यका नाम है असत्यविधि। जो नहीं है उसकी विधि बताना सो यह दूसरा असत्य हो गया। जैसे यहां पुस्तक नहीं है और पूछें कि अमुक पुस्तक है ? तो वह कहता है कि है, तो जो चीज असत् है उसका विधान करे, वह असत्य विधि नामका दूसरा असत्य है। तीसरे असत्यका भेद है मिथ्या वचन।

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञयं गौरिति यथाश्वः।।९४।।

मिथ्यावचन नामक तृतीय असत्यवचन—जिस रूपसे जो चीज विद्यमान है उसे अन्य रूपसे विद्यमान कहना सो तीसरा असत्य है। जैसे बैलको घोड़ा कहना, मनुष्यको पशु कहना, पशुको मनुष्य कहना और सिद्धांतमें चलो तो इसके तो अनेक दृष्टान्त हैं। ईश्वर है, पर वह किमात्मक है, किस स्वरूपसे है उस स्वरूपसे वर्णन न करके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अन्य स्वरूपसे वर्णन करना। ईश्वर हमको सुख देता है, दुःख देता है, हमें बाल बच्चे देता है, हमें खाना देता है, बोलते जावो और वास्तवमें ईश्वर है कैसा ? अपने अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्दमें मग्न है, वह निर्विकल्प है। किसी पर विकल्पमें आता ही नहीं, विशुद्ध है, आनन्दकी मूर्ति है, परम पावन है। किन्तु इसके विपरीत उसे अनेक प्रकारसे बता देना यह क्या है ? यह मिथ्यावचन है। है किसी भांति और माने और भांति, यही असत्य है।

मूलमें सत्य होकर भी व्यवहारमें प्रसिद्ध विपरीतता के कारण मिथ्यावचनकी उपपत्ति—कभी-कभी कोई बात मूलमें अलंकारिक रूपसे कहे जाने पर भी उसका रूप यथार्थ रहता है, सत्य रहता है, पर आशय मलिन होनेसे धीरे-धीरे वही बात अन्य रूपसे मान ली जाती है तो वह असत्य बन जाती है। जैसे देवी देवताओंका जो आदि रूप है, जब शुरू हुआ होगा उन देवी देवताओंका रूप उस समय लोग यथार्थ मानते होंगे ढंगसे और धीरे-धीरे उस मर्मका पता न रहा वैसे अन्य रूपमें मानने लगे तो वह असत्य हो गया। दृष्टान्तके लिये सरस्वती की मूर्ति लीजिये। तालाबमें कमलपर एक सरस्वती बैठी है, जिसके चार हाथ हैं, एक हाथमें वीणा लिये है, एक हाथमें माला लिए है, एक हाथमें पुस्तक लिए है और एक हाथमें शंख लिए है, पासमें हंस बैठा है। ऐसी ही तो मूर्तिकी प्रसिद्धि है ना। लोग इसी रूपमें मानते हैं कि हां ऐसी कोई देवी होती है, उसके ऐसे चार हाथ होते हैं, इस ढंगसे रहती है, पर मूलमें जिस समयमें यह रूप शुरू किया होगा कविजनोंने, उस समय उसका सही रूप था और वह अलंकार रूपमें था। सरस्वती उसे कहते हैं जिसका बहुत बड़ा विस्तार हो। सबसे बड़ा विस्तार है विद्याका, ज्ञानका। ज्ञान और विद्याके बराबर किसी भी चीज का विस्तार नहीं होता। उससे बढ़कर फैला हुआ क्या हो सकता है ? ज्ञान लोकालोकमें फैल सकता है। क्या कोई पदार्थ ऐसा है जो ज्ञानके बराबर फैल सके ? तो सरस्वती नाम विद्याका है जिसका बहुत बड़ा भारी फैलाव होता है। बस उस फैलावको तालाबके रूपमें अलंकारमें रखा, क्योंकि तालाब भी फैला हुआ होता है। और सरः तालाब का भी नाम है। यह एक संकेत है, विद्या का अधिक फैलाव होता है। चूंकि विद्या शब्द स्त्रीलिंग है इसलिए उसे देवीके रूपमें उपस्थित किया। समस्त विद्या चार अनुयोगोंमें आती है, परमार्थतः कोई भी निरूपणा चार अनुयोगोंसे बाहर नहीं है। वे चार अनुयोग उस विद्यारूपके चार हाथ रूपमें किए गये हैं। चार अनुयोगमयी वह विद्या है और उस विद्याकी साधनाका उपाय जिससे विद्याके मर्म तक हम पहुंच जायें, एक ध्यान है। उसका संकेत मिलता है मालासे। एक अनाहद ध्वनि है। एक गम्भीर स्वरसे उच्चार करना यह भी अपने आप तक पहुंचानेमें एक कारण है। उसका प्रतीक शंख है। पुस्तक द्वारा अध्ययन होता है उस विद्याका, तो पुस्तक है एक हाथमें। और भीतरी स्वर द्वारा भी परिणामों में एक उज्ज्वलता आती है और उस विद्याके स्वरूप को समझनेकी सामर्थ्य बनती है तो उसका प्रतीक वीणा है। ऐसी विद्याका उपासक भव्य जीव होता है। जो स्वच्छ हृदय वाला है, जो विशुद्ध व्यवहार रखता है, विशुद्ध वचन व्यवहार रखता है उस विशुद्ध भव्यका प्रतीक है हंस, जो उस सरस्वती की ओर टकटकी लगाये बैठा है। तो एक अलंकाररूपमें प्रतीक था यह चित्रण जिसने कि विद्याके सही रूपमें पहुंचाया है। अब यहां देख रहे हैं लोक यों कि ऐसी देवी होती है, उसका नाम लेकर मन्त्र पढ़ें तो वह सिद्ध हो जाती है। ऐसे हाथ हैं उसके इत्यादि। तो पदार्थ हो और प्रकार और बताया जाय और प्रकार तो यह तीसरा असत्य कहा गया है।

असत्य सम्भाषणसे अनर्थ—असत्य सम्भाषणमें असत्यभाषीका परिणाम तो बिगड़ा ही है अतएव उसे हिंसा होती ही है, पर असत्य सम्भाषणसे दूसरे जीवोंका भी अनर्थ हो जाता है, अतएव उसे द्रव्यहिंसा भी लगी। उसमें स्व और पर दोनोंका अनुपकार है। इस प्रकरणमें हम यह शिक्षा ग्रहण करें कि ऐसा झूठ बोलनेसे कोई प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता और मानलो कल्पनावश कोई प्रयोजन वर्तमानमें सिद्ध भी होता हो तो उसे सिद्ध न समझिये। असत्य सम्भाषणसे जो पापकाबन्ध होता है उस पापके उदयकाल में उससे बीसोंगुना अनर्थ होने वाला है। जैसे हम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आप थोड़ासा समझ लेते हैं कि असत्य बोलने से हमको यह लाभ होता है तो लाभ नहीं होता, उससे बीसों गुना अनर्थ होगा, अलाभ होगा, नुकसान होगा। लाभ भी असत्य से नहीं होता है, केवल एक कल्पना कर लेते हैं लोग। जो लोग झूठ बोलकर भी व्यापार करते हैं, है किसी भावकी चीज और बोलते हैं और भाव की, वे भी यह समझानेकी कोशिश करते हैं कि जो हम कह रहे हैं सो सच कह रहे हैं। तो ग्राहकने जो चीज खरीदी है वह सोच समझकर ही खरीदी है। अगर वह समझ जाय कि व्यापारी असत्य बोल रहा है तो वह चीज न खरीदेगा। तो व्यापारीका यह भी कोरा भ्रम है कि असत्य सम्भाषणसे लाभ होता है। अरे लाभ तो पुण्यके अनुसार है। असत्य सम्भाषण करके तो लाभमें कमी की। और भी बरबादीकी ओर ढलना शुरू हो गया। असत्य सम्भाषणसे रहित जीवन हो तो देखिये कितनी प्रसन्नता रहती है। असत्य स्वयं हिंसा है, अतएव असत्य सम्भाषण न करके अपने आपमें विराजमान् अन्तः-कारण समयसार परमात्मतत्त्वकी हमें रक्षा करनी चाहिये।

गर्हितमव्द्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥९५॥

चतुर्थ असत्य वचन—जो वचन निंद्य हो, पापसे भरा हुआ हो, दूसरेको अप्रिय लगे वह वचन भी असत्य माना गया है क्योंकि सत्य वचन बोलनेका उद्देश्य यह है कि अपने आत्माका और दूसरे आत्मा का उपकार हो। पर इन तीन प्रकारके वचनोंमें न तो खुदका उपकार है और न परायेका उपकार है, बल्कि अपकार है। इस कारण ये गर्हित सावद्य और अप्रिय वचन भी असत्य वचन जानना चाहिये। अब इनका स्वरूप अलग-अलग बता रहे हैं ताकि विशेष भान हो कि ऐसे वचन हम लोगों को बोलना न चाहिये।

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥

गर्हित वचनका विवेचन—जो वचन चुगली रूप में हों, हंसी मजाक वाले हों, कठोर हों, मिथ्या श्रद्धान् से भरे हुए हों और जो वचन आगमशास्त्रके विरुद्ध हों वे सब वचन निन्द्य वचन कहलाते हैं। चुगली वाले वचन तो अनर्थ के लिये हैं, चुगली करने वाला पुरुष खुद हैरान हो जाता है। यहांकी बात वहां मिलाना, उसमें अपना समय बरबाद करना और साथ ही साथ यह शंका बनाये रहना कि कदाचित् इसका असली मर्म इन दोनोंको विदित हो जाय जिसकी चुगली की जा रही है तो उसकी परिस्थिति बड़ी खोटी होगी। उसके यह शंका बनी रहती है। और फिर बिना प्रयोजनके जो यह चुगली की जा रही है इससे दिल अटपटा सा हो जाता है फिर उसका चित्त स्थिर नहीं रहता इससे चुगलीके वचन झूठ वचन कहलाते हैं, उसमें थोड़ी बहुत सच्चाई भी भरी हो लेकिन छुपकर, एक दूसरेसे बैर बनानेका जो यह प्रयत्न है और उस प्रयत्नमें जो वचन बोले जाते हैं वे वचन हिंसारूपी ही हैं, क्योंकि इस चुगली करने वालेका परिणाम तो बहुत खोटा ही हो गया। बादमें वह दूसरोंका अनर्थ करनेका यत्न कर रहा है। अतः मिथ्या वचन है। इसी तरह हंसी मजाक करने वाले वचन असत्य वचन हैं। कहते हैं ना कि रोगोंकी जड़ खांसी और झगड़ेकी जड़ हांसी। हंसी मजाकका वचन तो तत्काल भी अनर्थके लिये है हंसीसे विवाद शुरू होकर बादमें एक दूसरेका सर्वस्व लूट सकता है। तो हंसी मजाकके वचन अनर्थकारी हैं। इसी तरह मिथ्या विश्वाससे भरे हुए वचन असत्य वचन हैं। जैसे देवी दहाड़ेकी पूजा और भी मनोकामनाओं के लिये अनेक देव कुदेव गुरुवों की पूजा ये सब मिथ्या श्रद्धान भरे वचन हैं। किसी को कोई मिथ्यात्वमें लगाने वाला उपदेश दे तो वे वचन भी मिथ्यावचन हैं। जो ज्यादा बोले, गपसप करे तो वे वचन भी असत्य वचन माने गये हैं। ज्यादा बोलनेमें कुछ वचन निन्द्य अथवा अहित-कर निकल जाते हैं, उससे खुदको भी बड़ा पछतावा होता है और वातावरण भी अशान्त बन जाता है इस कारण प्रलाप भरा वचन भी असत्य वचन कहा गया है। इसी प्रकार जो शास्त्रसे विरुद्ध वचन हैं वे सब वचन गर्हित कहे गये हैं। मनुष्यकी स्थिति वचनोंपर ज्यादा निर्भर है। कौन मनुष्य कैसा है इसकी पहिचान वचनोंसे हुआ करती है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

एक दूसरे मनुष्यका विश्वास होना भी वचनोंपर निर्भर है। सो सबको विदित ही है। मनुष्योंका परस्परका सम्बन्ध अच्छा हो, बुरा हो यह सब वचनों पर निर्भर है। तब समझ लीजिये कि वचनोंकी संभाल मनुष्य-जीवनको सुखी करनेके लिये कितनी अधिक आवश्यक है? जितने झगड़े बनते हैं, एक दूसरेके जानी दुश्मन बनते हैं वे सब वचनोंसे शुरू होते है। सब झगड़ोंका मूल है वचनोंमें कटुता लाना तो क्यों न वचनोंको संभालकर बोला जाय? जो वचन निन्द्य भी न हों, पाप भरे भी न हों, अप्रिय भी न हों ऐसे वचन बोले जायें। अब इन चार प्रकारोंमें जो सावद्य वचन बताया है उसकी परिभाषा कर रहे हैं।

छेदनभेदन मारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

सावद्यवचनका विवेचन—जो छेदन, भेदन, मारने, सोचने, व्यापार, चुगली आदिकके वचन हैं वे सब सावद्य वचन हैं, क्योंकि उन वचनोंसे प्राणीमें बन्ध आदिक पापोंकी प्रवृत्ति चलती है। जैसा कहा कि इस पशुका अमुक अंग छेदो। पशुवोंको वश करते हैं, ऊंटोंको नाथ डालते है, बैलों को नाथ डालते हैं और तरह कान छेदना, पूंछ काटना आदिक जो उपदेश हैं उससे प्राणिबध ही तो हुआ, अपना परिणाम भी कलुषित हुआ, अज्ञानभरा हुआ। मान लो संक्लेश नहीं है मौज मान लिया, मौज मानकर भी तो अज्ञानवश ही किया। दूसरोंका छेदन करना, बध करना, पीटना आदिक ये सब वचन पापसे भरे हुये हैं, सावद्य होते हैं और सावद्य व्यापारकी बात कहना जिसमें जीव-हिंसा होती है और स्वयंको भी बहुत संक्लेश करना होता है ये सब वचन भी सावद्य वचन हैं। चौर्य-वचन तो पापसे भरा ही होता है। मनुष्यको धन प्राणोंकी तरह है और कोई उस धनकी चोरी करनेका वचन बोले, कोई चोरी करले जाय तो उस मनुष्यका कितना प्राण पीड़ा जाता है। इस प्रकारके वचन सावद्य वचन हैं। चतुर्थ असत्यवचनमें तीसरा प्रकार है अप्रियताका। अब उसका वर्णन करते हैं।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

चतुर्थ असत्यवचनके अन्तर्गत अप्रियवचनका विवेचन—जो वचन दूसरेसे अप्रीत उत्पन्न करे, भय उत्पन्न करे, खेद कराये, बैर बढ़ाये, शोक झगड़ा कराये और प्रकारके भी संताप कराये, वे सब वचन अप्रिय समझना और अप्रिय वचन असत्य कहे जाते हैं। मनुष्योंमें कषायोंका आवेश नाना प्रकार का है। उस आवेशमें आकर अपनेको महान् समझकर, दूसरे को अपनेसे तुच्छ जानकर जिस ढंगसे वचनोंकीप्रवृत्ति होती है वे वचन दूसरों को दुखदायी होते हैं। सदैव दूसरों का आदर बढ़े, ऐसे वचनोंका पालन किया जाय तो यह खुद भी बड़े चैनमें रहता है और वातावरण भी बड़ा शान्त रहता है। किसी को अपमानजनक बात न कहना चाहिए। यहां कौन छोटा है और कौन बड़ा है? यह तो संसार है, आज जो बढ़ा चढ़ा है उसकी कलकी स्थिति का पता नहीं है। इसलिये इन सासांरिक समागमों में ऐसा बिश्वास नहीं किया जा सकता कि जो स्थिति पायी है, जो समागम मिला है वह मेरा है, मेरेसे कभी कुछ नहीं बिछुड़ सकता, परिवर्तित नहीं हो सकता। अरे जब बड़े-बड़े राजा भी मरकर कीट बन गये हैं, कुछ देव मरकर एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं, कुछ देव मरकर पशु पक्षी तक बन जाते हैं तो और क्या उदाहरण दिया जाय इसको सिद्ध करने के लिए कि संसारमें बड़े-बड़े ओहदोंको पाकर भी उनके बने रहने का विश्वास नहीं है। आज जो छोटा है वह कल महान् बन सकता है, आज जो महान् है वह कल तुच्छ बन सकता है और फिर छोटे बड़े सभी एक दूसरेके काम आ सकते हैं। मालिक सोचता है कि मेरे कारखानेमें ये हजारों मजदूर काम करते हैं उनकी आजीविका मैं लगाये हूं, पर वे मजदूर भी तो उस मालिककी आजीविका लगाये हैं। मजदूरों की कृपासे ही वह मालिक मौज उड़ा रहा है। तो यह एकान्त कहना असत्य है कि मैं इनको पालता हूं। तो यहां किसे नीच समझा जाय और किसे ऊंच समझा जाय? बच्चों की कहानी में एक कहानी आयी है कि एक चूहा सोते हुए सिंह

http://sahjanandvarnishastra.org/

के ऊपर उछलता उछलता आ गया। उससे उस सिंह को कुछ क्लेश हुआ। सिंह ने उस चूहे को अपने पंजे से पकड़ लिया। तो चूहा कहता कि हे बनराज ! मुझे मत मारो, देखो मैं भी तुम्हारे किसी काम आऊंगा। सिंह सोचता हैं कि यह चूहा मेरे काम क्या आयेगा ? पर उसे तुच्छ समझकर यों ही छोड़ दिया। कुछ दिन बाद में वही सिंह एक शिकारीके जाल में फंस गया। ज्यों-ज्यों वह निकलने की कोशिश करता गया त्यों त्यों और भी जालमें फंसता गया। जालमें जकड़ा हुआ सिंहको देखकर वही चूहा पासमें आया और बोलता है कि ऐ बनराज ! तुम दु:खी मत हो, हम तुम्हारे प्राण बचावेंगे। क्या किया चूहे ने कि जाल जाल काटना शुरू कर दिया। कुछ जाल कट जाने पर वहां से सिंह निकल गया। तो कभी चूहा भी सिंहके काम आता है। यहां किसका सम्मान किया जाय और किसका असम्मान किया जाय ?

अप्रिय वचन बोलने का अनौचित्य—अप्रिय वचन बोलना मनुष्यको हितकारी नहीं है। ये अप्रिय वचन भी असत्य वचन हैं। क्योंकि दूसरों को डराना चाहते हो, उससे अपने आत्मा को क्या लाभ होगा ? जो दूसरेको भय उत्पन्न कराना चाहता है वह पहिले स्वयं ही एक कोई शंका भय संदेहको उत्पन्न करता है, बादमें कोई दूसरा भयभीत होता है तो उस प्रकरणमें यह भी किसी विपत्ति में फंसता है। जो वचन भय उत्पन्न करें वे असत्य वचन कहे गये हैं। सत्य वचन वे हैं जो किसी आत्माका उपकार करें। जो खेद बढ़ायें ऐसे वचन भी असत्य वचन हैं। दु:खी पुरुष जिस कारण से दु:खी होते हैं उसके कारणको दुहराकरके कहें तो खेद ही पड़ता है। जब कभी इष्टवियोग हो जाय और उसके रिश्तेदार समझाने के लिये घर आते हैं तो वे रिश्तेदार उस मरे हुएके गुण और गा गाकर कुटुम्बीजनोंका खेद बढ़ाते हैं। बड़ा अच्छा था, सबकी रखवाली करता था, खुदके खाने पीनेकी कुछ फिकर न थी, घर वालोंकी बड़ी पूछ करता था। अरे वे घरवाले इसी बात से तो दु:खी हैं और उनको ये इस बातकी याद दिलाकर उसका दु:ख बढ़ा रहे हैं। चाहे बात ठीक कह रहे मगर खेद बढ़ाने वाले वचन हैं। वे योग्य वचन नहीं हैं। जो वचन बैर विरोध, शोक, झगड़ा आदि बढ़ावे वे असत्य वचन हैं। देखिये जैसे यह आरम्भ में बताया जा रहा है कि वचन किस प्रकार बोलना चाहिए तो ऐसे वचनोंका प्रयोग यदि होने लगे तो कोई असंगठन की बात ही न रहे किसी प्रकारका विरोध हो ही नहीं सकता। सभी अपने अपने वचनों की संभाल कर लें, एक दूसरेको सम्मानकी दृष्टिसे देखें, घृणासे नहीं। चाहे कोई कैसा ही विचार रखता हो, आखिर सब बुद्धिमान हैं, सबके अन्दर समझ है, धर्मका प्रेम है, सभी जैन शासन रुचि वाले हैं, फिर परस्परमें क्यों बैर विरोध हो ? सभी अपने-अपने कर्तव्यको सम्भाल लें तो शान्ति मिल सकती है। तीर्थंकर प्रकृति बंधकी भावनाओंमें प्रधान भावना दर्शनविशुद्धि है। जिस भावनामें भावक पुरुष संसार के समस्त जीवोंका कल्याण चाहता है। अरे जरा अपनी ही दृष्टि तो संभालना है। अपने आपके स्वरूप का जरा निखारनेका यत्न ही तो करना है, सारे क्लेश मिट जाते हैं। क्यों न ये सब जीव अपने स्वरूप की दृष्टि करलें ? इस प्रकारकी भावना होती है तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। तो आप सोचिये कि महापुरुषोंका यह एक गम्भीरतापूर्ण बर्ताव है कि वे सभी जीवोंको सुखी निहारना चाहते हैं। तो सबका यही कर्तव्य है कि सभी जीवोंको सुखी निखारनेकी भावना करें। अब कोई अपने पड़ौसके अपने गोष्ठी के लोगोंको सुखी रखनेकी भावना तो न करे और वे मुनि सुखी हों, वे ज्ञानी सुखी हों, वे गुरु सुखी हों यों रटन लगाये तो आप बताओ कितनी हंसीपूर्ण उसकी प्रवृत्ति है। एक अपने आपको अशान्त करने वाली है झूठ बात। यों समझिये कि उसके चित्त में दयाका बर्ताव नहीं है। होता दयाका बर्ताव तो जिनका अपने से घनिष्ट सम्बन्ध है उनपर ही क्यों पहिले कृपा करता ? तो जो बात बैर विरोध बढ़ाये, शोक कलह मचाये ऐसे वचन असत्य वचन ही कहे जाते हैं।

अप्रिय वचन न बोलने की शिक्षा—देखो अप्रिय वचन हैं उन वचनोंको पशु भी नहीं सह सकते। यद्यपि पशु उन वचनोंका मनुष्योंकी भांति पूरा अर्थ नहीं समझ पाते, किन्तु इतना जरूर जान जाते हैं कि यह हमारा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपकार कर रहा या है हमको अपना रहा है। जब कुत्ते को पुचकार बुलाते हैं तो पूछ हिलाकर बड़ी विनयपूर्वक वह पासमें आता है और जब कोई गाली भरा बुरा वचन बोलकर कहता है तो वह कुत्ता अपना अपमान समझकर दूर भाग जाता है। तो चाहे मनुष्योंकी भांति शब्द का अर्थ न जान सके, मगर वे समझते हैं तभी तो गाली भरा बुरा वचन कहने पर वे दांत निकालते हैं, गुर्राते हैं और यहां तक कि कोई-कोई पशु उस असम्मानसे अच्छा यह समझते हैं कि इससे तो मेरा अन्त हो जाय तो अच्छा है। भला बतलाओ कि जो वचन पशुओं को भी बुरे लग सकते हैं जिससे हैरान होकर वे भी अपने प्राणाघात हो जाना उचित मानते हैं, फिर जो वचन मनुष्यों के प्रति बोले जायें तो क्या मर्मको भेदते नहीं हैं वचन मर्मभेदी नहीं होना चाहिये। दूसरेका महत्त्व आंकते हुए वचन होना चाहिये। अरे निगोदसे निकलकर और भावोंसे निकलकर आज मनुष्य हुए हैं, श्रावक कुलमें पैदा हुए हैं, जैनधर्म के प्रति रुचि है, कुछ तो गुण है ना। क्यों नहीं वात्सल्य उमड़ता है ? यदि किसीके प्रति वात्सलय हो तो वात्सल्य उमड़ने वाले के चित्तमें दोषों की पकड़ नहीं रहती। दृष्टान्तके लिए मां और पुत्रका वात्सल्य ले लीजिये। मां और पुत्रका शुद्ध निष्कपट वात्सल्य रहता है। पुत्रमें चाहे कोई दोष भी हों पर मांके चित्तमें वही कृपा, वही करुणा, वही उन्नति की आकांक्षा बनी रहती है, तो समझिये कि साधर्मी बन्धुओं में जबकि सबका उद्देश्य है—जैन शासनकी शरण लेकर अपना उद्धार करना तो फिर क्यों नहीं एक दूसरे के प्रति वात्सल्यभाव उमड़ता है ? ये अप्रिय वचन, असम्मान भरे वचन बोलना योग्य नहीं है। अप्रिय वचन बोलना, असम्मान भरे वचन बोलना यह जीवनका एक कलंक है। ऐसे बोलने वाले न स्वयं सुखी रह सकते और न कोई दूसरा सुखी रह सकता है।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९॥

असत्यवचनमें हिंसाका दोष—अहिंसा तो धर्म है और हिंसा अधर्म है। हिंसा ५ तरह की होती है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। हिंसा तो हिंसा है ही, झूठ बोलना हिंसा है क्योंकि इन सभी प्रकारके वचनोंमें जो कि झूठ बताये गये हैं—है को न करना, न को है करना, निन्दनीय अप्रिय वचन बोलना, इन सब वचनों में हिंसा क्यों है कि प्रमादसहित योग है उनमें, अर्थात् कषायसे झूठ बोला जाता है। कषायभाव न तो झूठ कौन बोले ? कषाय भाव होनेके कारण चूंकि झूठ बोला जाता है इस कारणसे असत्य वचनमें भी हिंसा ही समझना चाहिये और असत्य वचन बोलकर हिंसा किसकी हुई ? असत्य बोलने वाले की। दूसरे के प्राण दुखें अथवा न दुखें यह आगे की बात है, पर असत्य बोलने वाले तो अपने आपकी हिंसा कर ही ली, क्योंकि प्रमादभाव होनेसे उसके हिंसा है ही ? हिंसा क्या ? आत्माका जो चैतन्यस्वरूप है विशुद्ध ज्ञानानन्द, उसका घात हुआ, यह उसकी हिंसा हुई ?

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

प्रमत्तयोगके अभावमें कहे गये हेयोपादेयके उपदेशमें असत्यका अभाव—यहां कोई ऐसा प्रश्न कर सकता है कि यदि अप्रिय वचन बोलना भी झूठ है तो मुनिजन जो उपदेश करते हैं कि अमुक चीज छोड़ो, अमुक चीज ग्रहण करो तो जो अज्ञानी जन हैं उनको तो दुःख होता है। जैसे आचार्य ने कहा कि रात्रि भोजन त्याग करो तो उन्हें दुःख होता है तो फिर यह झूठा हुआ, ऐसी यहां शंका होती है। उसके उत्तर में कहते हैं कि जितने भी झूठ वचन होते हैं उनका कारण क्या है याने वे झूठ कहलाते क्यों हैं ? उसका हेतु है कषाय भाव। तो साधुजन कषाय करके उपदेश नहीं करते। चाहे वे वचन अज्ञानी जनोंको बुरे लगें, उनके प्रतिकूल पड़ें मगर आचार्य महाराज कषाय भावसे ऐसा नहीं करते। उनके चित्तमें तो करुणा भाव ही है कि अमुक जीवका भला हो, उसके भव मिटें, सम्यक्त्व मिले। उनके चित्त में तो कृपा ही है। अज्ञानी जीव अगर बुरा मानते हैं तो मानें, उससे ज्ञानी साधु

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जनोंको को झूठका दोष नहीं लगता। आचार्य महाराजके उपदेशमें कोई-कोई बात तो अज्ञानीजनोंके तीरकी तरह चुभती है। जैसे शास्त्रवचन कर रहे हों। सब सुन रहे हैं और वहां कोई परस्त्रीगमन त्यागका उपदेश कर रहे हों तो जो परस्त्रीगामी पुरुष होंगे उन्हें वे वचन बड़े तीव्र लगते हैं। ऐसे ही अगर जुवा खेलनेका त्यागका उपदेश हो तो जुवा खेलने वालोंको वे वचन तीरकी तरह लगते हैं। तो साधुजनोंके इस प्रकारके वचनों में उन्हें दोष नहीं लगता। जिनके चित्तमें दूसरोंका दिल दुखानेका परिणाम है उनके हिंसा लगती है और जहां दूसरोंके भलेका ही परिणाम है वहां झूठ दोष नहीं लगता है।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

सत्याणुव्रतका निर्देश—त्याग दो प्रकार का होता है—एक तो पूर्ण रूपसे त्याग और एक एकदेशका त्याग। पूर्णरूप त्याग तो मुनियों के होता है और एकदेश त्याग गृहस्थोंके होता है। तो गृहस्थजन अपना कुछ सांसारिक प्रयोजन भी रखते हैं, आजीविका चलाना, धर्म कमाना, बोलचाल करना आदि। उनका सांसारिक प्रयोजन सावद्य वचनोंके बिना नहीं चल सकता, पापयुक्त वचन कोई न कोई प्रकारके बोलने में आते ही हैं। व्यापारादिकके वचन धर्मके वचन नहीं हैं, वहां कोई न कोई प्रकार सावद्य वचनका दोष लगता है। कोई न कोई प्रकारकी पाप भरी बात होती ही है। मान लो व्यापारमें हैं तो वहां चीजोंके उठाने धरने आदि सभीमें पाप है। तो आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि गृहस्थ समस्त सावद्य वचनों का त्याग न कर सकें तो न सही, परन्तु और बाकी झूठ वगैरहका त्याग तो कर सकते हैं। आजीविकाके सम्बन्धमें या भोगों व भोग के सम्बन्धमें यदि वे वचनालाप नहीं छोड़ सकते, सावद्य वचन नहीं तज सकते तो इसके अलावा जो और व्यर्थकी फालतू लड़ाइयां आदिक की बातें करते हैं उनका तो परित्याग करें ही करें।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

चौर्य पापका स्वरूप और उसमें हिंसा दोषका कथन—यहां तक झूठ बोलना नामक पापका वर्णन किया, अब चोरीके पापका वर्णन कर रहे हैं, कि प्रमाद कषायके सम्बन्धसे बिना दिए हुए परिग्रहका ग्रहण कर लेना सो चोरी है और वह जीवबंधका कारण है इसलिये हिंसा है। जो मनुष्य किसीकी चीज को चोरी करने का परिणाम करता है तो वह बिना कषाय किए चोरी नहीं करता। उसे कितना सजग होकर रहना पड़ता है, कितनी कषाय करनी पड़ती है? इस कषायके ही कारण खुदकी वह कितनी बड़ी हिंसा करता है। चोरी करनेमें हिंसा है क्योंकि वह चोरी करने वाला कषाय करके अपने चैतन्य प्राणों की हिंसा करता है? चोरी करने वाला अपने स्वरूपकी सुध खो देता है। अपने आपमें वह नहीं रह सकता और बाहरी पदार्थोंमें ही उसकी दृष्टि रहती है तो चोरी करने में नियमसे हिंसा है। चोरी करने वाला यदि पापका परिणाम न करता तो उसके ज्ञान और आनन्दका विकास होता। पूर्ण ज्ञान और आनन्दको भोगता। तो ज्ञान और आनन्दका जो विकास रुक गया यह तो अपने आपकी बहुत बड़ी हिंसा करली। तो चोरी करनेमें भावप्राणका तो घात होता ही है और जिसकी चीज चुरायी उसके द्रव्यप्राणका घात है। कोई थोड़ा १०-२०-५० रुपये भी काटले तो उसको कितना खेद होता है और अपने हाथसे दान दे तो उसमें कितनी प्रसन्नता होती है? दूसरेकी चीज चुराने में जिसकी चीज चुराई उसका भी प्राणघात होता है और चुराने वालेके भावप्राण का घात होता है, इसलिए चोरी की हुई वस्तुमें नियमसे हिंसा है।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चोरीमें हिंसाका दोष लगनेका कारण—जो पुरुष किसी दूसरेके पदार्थको हरता है वह उस जीवके प्राण हरता है क्योंकि धनादिक वैभव इस पुरुषके बाह्य प्राण हैं। यद्यपि धन द्रव्य प्राणोंमें कोई भी प्राण नहीं है। प्राण १० हैं—५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। लोग धनको भी प्राणोंसे प्यारा समझते हैं। उस धन के कारण प्राण तक चले जाते हैं। एक पंजाबकी घटना है, एक आदमी गेहूँ वेचकर हजार रुपये लाया, उन हजार रुपयोंकी गड्डी बनी थी। जाड़े के दिन। सो आगके किनारे जा बैठा ताप रहा था। बच्चे के हाथ में वह गड्डी खेलने को दे दी। उस बच्चेने नासमझीके कारण उस गड्डी को आगमें डाल दिया। उसे इतना क्रोध आया कि उस बच्चे को भी आगकी भट्टीमें पटक दिया। वह बच्चा मर गया। तो यह धन इस मनुष्यको प्राणोंसे प्यारा है। जिसने किसी दूसरे का धन हरा, उसने दूसरेका प्राण हरा, यों समझना चाहिये। संसारी जीवके जैसे जीनेके कारणभूत इन्द्रियां हैं इसी तरह धन सम्पत्ति मन्दिर पृथ्वी आदिक ये जितने पदार्थ पाये जाते हैं ये भी उनके प्राण के कारण भूत हैं। इनमें से कोई एक भी चीज चुरा ले तो इससे उन जीवोंके प्राणघातकी तरह दुःख होता है। जैसे कोई मर्म छेदकर उसमें जो पीड़ा होती है उतनी ही पीड़ा धनके वियोग में होती है। ऐसे बाह्यभूत धनको कोई ग्रहण करे तो वह चोरी है और वह अपनी और दूसरेकी हिंसा करता है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥

चोरीमें हिंसाकी व्याप्ति—जहां चोरी है वहां हिंसा है, इस लक्षणमें कोई दोष नहीं है, आध्यात्मिक दोष भी नहीं आता, क्योंकि सर्वत्र देख लो—जो चोरी करता है उसके परिणामोंमें कषाय अवश्य है। शान्तिसे निष्कषाय भावसे कोई चोरी नहीं कर सकता। तो जहां-जहां चोरी है वहां-वहां हिंसा है, इस लक्षणमें अभीष्ट दोष नहीं है, क्योंकि कषाय योगके बिना चोरी होती ही नहीं है। दूसरा कोई पुरुष किसीका धन हर ले, धोखा दे दे, ऐसी कषाय भरी वेग भरी प्रवृति कर डाले, और कषाय न हो चित्तमें, तो यह बात तो नहीं हो सकती, इससे चोरी पाप कम पाप नहीं है, वह हिंसा भी है और चोरी भी है, तो सारेके सारे पाप हिंसा दोष वाले हैं। हिंसा के सिवाय और दोष क्या कहलायेगा? अपने तथा दूसरे के प्राणोंका पीड़ना यह तो हिंसा है और ये जो चार तरहके पाप और बताये—झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। ये लोगों को समझानेके लिये बताये कि ये काम करनेमें भी हिंसा होती है। दूसरेका बध करने में भी हिंसा होती है और झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना और परिग्रह जोड़ना, इनमें भी हिंसा है क्योंकि अपने स्वभावकी हिंसा है, अपने स्वभावसे वह विपरीत चला गया, इससे उसने खुदकी हिंसा कर दी।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वत् ॥१०५॥

प्रमत्तयोगसे चोरीको हिंसा कहनेमें अतिव्याप्तिदोषका अभाव—वीतराग पुरुषोंके एक प्रमाद योग रूप कारण नहीं रहता, इसलिए उनमें चोरी का दोष नहीं है। यहां एक प्रश्न और उठा कि बिना दी हुई चीज को स्वीकार कर लेना सो चोरी है या नहीं? तो वीतराग पुरुष श्रेणीमें रहने वाले या मुनिजन या ११वें १२वे गुणस्थान वाले वीतराग उनके जो कर्म आते रहते हैं, शरीर वर्गणायें आती रहती हैं, अरहंत भगवंत के भी कर्मका आश्रव है वह शरीर में आता है और निकल जाता है, लेकिन जो आया है, जो ग्रहणमें हुआ है वह भी तो होता है तो क्या वह चोरी है? उत्तर देते हैं कि इसे भी चोरी न कहो क्योंकि उन वीतराग पुरुषों के कषाय नहीं है। वह तो कोई निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है उससे ये योग परिणाम होते हैं और कर्म आते हैं, वे कर्म दूसरे के स्वीकार किए बिना होते, उन पर किसीका अधिकार नहीं है। मालिककी मंशा बिना उसकी इच्छा बिना चीज हर ले तो चोरी है। कोई यों भी कहने लगे कि डाकू लोग तो बिना दी हुई चीज नहीं लेते हैं। वे तो गृहस्थसे कहते कि यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ताला अपने हाथसे खोलो, धन अपने हाथ से दो। तो डाकू लोग तो धन दूसरे के हाथसे ही लेते हैं तो क्या वह चोरी नहीं है ? अरे वह गृहस्थ अपने हाथों वह धन जरूर देता है पर अपनी मंशा से नहीं देता है, चूंकि प्राण हरे जाने का डर है इसलिए देना पड़ता है। वे डाकू लोग गृहस्थ को मारते पीटते भी हैं तो यह कितनी बड़ी भारी हिंसा है ? तो कषायसे चोरी करे तो उसका नाम चोरी है, पर वीतराग पुरुष बिना किसीके दिए हुए कर्मोंको ग्रहण कर रहे तो उसमें चोरी का दोष नहीं है।

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

अचौर्याणु व्रतका निर्देश—अब चोरी नामक पापके उपसंहारमें कहते हैं कि चोरी का त्याग दो प्रकार का है—एक तो सर्वथा त्याग और एकएक देश त्याग। मुनिधर्ममें तो परवस्तुका त्याग रहता है और श्रावक धर्म में एकदेश त्याग रहता है। तो जो कोई सर्वथा त्याग नहीं कर सकते हैं वे एक देश त्याग तो करें ही करें। जो एकदेश त्यागी है वह दूसरे के कुवें का तालाबका जल मिट्टी आदिक ऐसे पदार्थोंको जिनका कुछ मूल्य नहीं है, पर दूसरे के अधिकारमें हैं तो ऐसे हस्तग्रहण करते हैं गृहस्थावस्थामें और इसे चोरी भी नहीं कहा लोकव्यवहार में। तो दूसरेके कुवेंका मिट्टी पानी आदिकके ग्रहण का त्याग नहीं कर सकते, न करें, पर अन्य चोरी का त्याग तो करें ही करें। अगर चोरीका व्यवहार चल उठा तो फिर सारी अव्यवस्था हो जायेगी। किसी ने किसी को हर लिया तो फिर न व्यवस्था रह सकती, न प्रेम रह सकता, न धर्म रह सकता, न चैन रह सकती। विप्लव हो जायेगा, इसलिए व्यवस्थाकी दृष्टिसे चोरी का त्याग रहे तो उससे प्रजाजनोंमें शान्ति रहेगी। और आत्मादृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा पर-पदार्थोंको अपना स्वीकार करे सो ही चोरी है। जैसे शरीर अपना नहीं है, शरीर भिन्न पदार्थ हैं। पौद्गलिक तत्त्व है, आत्मा उससे न्यारा है फिर भी उस पौद्गलिक देहको अपना मानना कि यह मैं हूं इसके मायने चोरी है। रागादिक जो आत्मामें उठते हैं कर्मों का उदय पाकर उठते हैं, किसी न किसी परपदार्थका आलम्बन लेकर ही भाव उठते हैं तो वे भी औपाधिक हैं, भिन्न हैं विनाशीक हैं, उनको अपनाना कि यह मैं हूं, तथा जो रागादिक भाव हैं उन्हें अपनाना कि यह मैं हूं, यह चोरी है। तो जो अध्यात्मपद्धतिसे चोरी नहीं करते उनको भी सम्यक् दृष्टि कहते हैं। सभी लोग जो शरीरको मान रहे हैं कि यह मैं हूं अथवा जो भी बाह्य वस्तुओंको अपना रहे हैं वे चोरी कर रहे हैं। जो चोर हैं वे भी और करते क्या हैं ? किसी दूसरे की वस्तुको अपने घरमें रखकर अपनी मान लेते हैं इन्हीं परवस्तुओंके नाम अपनाने का नाम चोरी है। अब वस्तुरूपसे लगायें। धनादिक परवस्तु हैं, भिन्न हैं, जड़ हैं अपने स्वरूपसे बिल्कुल न्यारे हैं, उनको अपनाना, उनको स्वीकार करना इसीका नाम चोरी है। अध्यात्मपद्धति से जो चोरी का त्याग करता है वह ज्ञानी है, मोक्षमार्गी है। निकट भविष्यमें ही संसारके सभी संकटोंसे छूट जाने वाला है। चोरी नामक जो पाप है वह भी हिंसा है, क्योंकि उसमें अपने और दूसरेके प्राण हरे जाते हैं। इस कारण चोरी को हिंसा जानकर इसका परित्याग ज्ञानी पुरुष हीं करते हैं।

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा बधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७॥

कुशील पाप और उसमें हिंसाका दोष—चौथा पाप है कुशील, कामसेवन। जब किसीके काम पीड़ा होती है तो उस समय उसका परिणाम कलुषित रहता है, यह इतने अज्ञान अंधेरे में रहता है कि उसे अपने ब्रह्मस्वरूप की सुध हो ही नहीं सकती है। तो जो कामपीड़ासे सताया हुआ है उसके अपने भाव प्राणोंका तो नियमसे घात है। पर शास्त्रों में बताया गया है कि स्त्रीके अंग अंगमें, विशिष्ट विशिष्ट अंगमें निरन्तर अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे स्त्रीकी नाभिमें त्रस जीव उत्पन्न होते हैं तो उनके विघातमें उन प्राणियोंको हिंसा होती है। इस हिंसामें एक तो अपना चित्त स्थिर नहीं रहता, वह कामातुर स्त्री अथवा पुरुष बेसुध हो जाता है, न्याय अन्याय भी नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

गिनता, हेयउपादेयका कुछ भी विवेक नहीं रहता। इस कामको मनोज कहते हैं। यह वेदना मनसे उत्पन्न होती है। इसमें भूख प्यास आदिककी तरह कोई वेदना नहीं, कोई शारीरिक पीड़ा नहीं, यह तो एक मनकी पीड़ा है। मनमें जो एक खोटा भाव उत्पन्न हो जाता है; इससे ऐसा व्यथित हो जाता है यह जीव कि वह निरन्तर अपने आपकी हिंसा करता रहता है। इस कामसेवन में शान्तिका तो काम नहीं है। जिस स्त्री अथवा पुरुष पर दृष्टि डाली उसके अधीन बन जाता है। उसकी कषायोंकी पूर्ति इसे करनी पड़ती है। एक कथानक है कि एक कोई वेश्या थी, उसके मनमें आया कि किसी तरह से इस रानी का हार लेना चाहिये। तो अंजन चोरसे उसने सहज ही कहा कि तुम हमारे बड़े प्यारे हो, उस रानीका हार लाकर हमें देदो। तो उस अंजन चोरको पराधीनतामें आकर वैसा ही करना पड़ा। आगे क्या हुआ यह दूसरी बात है, मगर काम पीड़ा जगने पर वह पुरुष अथवा स्त्री परके अधीन हो जाता है। उससे इस लोक में और परलोकमें भी दुःख भोगना पड़ता है। काम पीड़ा उत्पन्न होने पर थोड़े समयमें बेवकूफी की, उससे वह इतना फंस जाता है कि जिन्दगी भर वह उन स्त्री पुत्रादिकके पीछे बड़ी-बड़ी हैरानियां उठाया करता है, रातदिन चिंतित रहना पड़ता है। आखिर उन सब कष्टोंका मूल यही है कि वह ब्रह्मचर्य को न पाल सका इससे वे सारे अनर्थ हो गए। तो काम सेवन से अपने और परके द्रव्यप्राण व भावप्राण की हिंसा होती है इससे एक महान् पाप है। इस महान् पापके कारण यह जीव अपने आपके परमात्मस्वरूप ज्ञानानन्द का विकास नहीं कर पाता है इससे वह निरन्तर अपने आपकी हिंसा किया करता है। तो हिंसा, झूठ, चोरी आदि किसीभी प्रकार के खोटे परिणाम करे तो वह खोटे परिणाम करने वाला नियमसे अपने आपकी हिंसा कर रहा है। उस हिंसाके कारण इस जीवको भव-भवमें दुःख भोगना पड़ता है। इस कारण जिन्हें अपने आप दया उत्पन्न हो उन्हें चाहिये कि सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करें, पापकार्योंसे बचें और अपने परमात्मारूप की उपासना करें।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥

कुशीलमें द्रव्यहिंसा होनेका विवरण—जैसे तिलोंकी नलीमें तप्त लोहा डालने से तिल नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार मैथुन करनेसे योनिमें भी बहुतसे जो सम्मूर्छन जीव हैं वे सब मर जाते हैं। अब्रह्म में भावप्राणकी तो हिंसा है ही क्योंकि उसमें बहुतसे जीवोंका प्राणाघात भी है इसलिये द्रव्यहिंसा भी उसमें बहुत है। अब्रह्ममें आत्मा की सुध नहीं रहती, क्योंकि वह ऐसा बाह्य सन्मुखी कार्य है कि इतनी तीव्र आसक्ति उस कामसेवनमें रहती है कि बाह्य चीजें ही उसके चित्तमें बसी रहती हैं। दूसरे का शरीर, दूसरेका रूप, इस कारणसे उसमें भावप्राणका बहुत ज्यादा घात है और भी देखिये जैसे ब्रह्मचर्यका अर्थ है आत्मामें रमण करना तो हिंसा आदिक जो ५ पाप हैं उन ५ पापोंके करनेसे ब्रह्मचर्यका घात है, आत्मा का रमण नहीं है। हिंसा करते समय भी आत्मामें नहीं रम रहा, झूठ बोलते समय, चोरी करते समय, परिग्रहके समय, व्यभिचारके समय आत्मामें नहीं रम रहा तो सभीमें ब्रह्मचर्यका घात है। लेकिन ब्रह्मचर्यके घातका नाम चौथा पाप जो रखा गया है यह क्यों रखा गया? पांचों पापों में ब्रह्मचर्यका घात है। आत्मामें रमण न हो सके सो ही व्यभिचार है, पांचों पापोंमें व्यभिचार है पर प्रसिद्धि कुशील की है। शेष चार की अपेक्षा कुशीलमें बड़ी बेसुधी रहती है आत्माकी ओरसे, इस कारण इसको अब्रह्मचर्य कहा गया है।

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥

अनङ्गरमणादि रूप कुशीलमें भी हिंसा—यहां कोई कुतर्क करे कि कोई स्त्री सेवन तो करे नहीं और उपायों से अपने कामसेवनकी प्रवृत्ति करे तो उसे कुशील पाप नहीं लगता है क्या? उसके उत्तरमें इस गाथामें बताया है कि कामवासनाके आवेश में आकर जो कुछ अनंगरमण आदिक काम किये जाते हैं, उनमें भी रागादिक की तीव्रता तो है ही, इस कारण से हिंसा होती है। रागादिक भाव तीव्रता न हो तो काम पीड़ा होना असम्भव है

http://sahjanandvarnishastra.org/

और जहां रागादिक अधिक हैं वहां ही हिंसा है। तो अनंग क्रीड़ासे हिंसा ही है क्योंकि इनमें रागादिक भावोंक तीव्रता रहती है। कामसेवनका अभिप्राय ही चित्तमें आये उससे ही महाहिंसा हो जाती है क्योंकि रागादिक भाव उसमें अति तीव्र होते हैं। इसका नाम मनोज कहा गया है। इस कामवासनासे शरीर की कोई वेदना नहीं रहती। जैसे कि भूख प्यास वगैरहकी वेदनाएं होती हैं उस तरहकी यह कामवासनाकी वेदना नहीं हैं। मनमें एक इस प्रकारका जहां राग भाव उठा कि ऐसी तीव्र वेदना हो जाती है जिससे वह बेसुध हो जाता है। तो मन की तीव्र आसक्ति वहां काम कर रही है। इससे इस कुशीलमें महापाप है।

ये निजकलत्रमात्रं परिहतुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतका निर्देश—आत्मकल्पनाके अर्थी को चाहिये तो यह कि सर्वप्रकारके अब्रह्म का त्याग करे। स्त्री मात्रका परिहार करे। लेकिन जो पुरुष मोहके कारण सर्वस्त्रियोंका परिहार न कर सके अर्थात् अपनी विवाहित स्त्रीको छोड़नेमें असमर्थ है तो उसे भी यह चाहिये कि अपनी स्त्री के अतिरिक्त शेष समस्त परस्त्रियोंके सेवनका परिहार करे। ब्रह्मचर्य व्रत दो प्रकारसे है—एक ब्रह्मचर्य अणुव्रत और एक ब्रह्मचर्य महाव्रत। ब्रह्मचर्य महाव्रतमें तो समस्त स्त्रियोंके संसर्गका त्याग बताया है और ब्रह्मचर्य अणुव्रत में धर्मानुकूल विवाहित अपनी स्त्रीको छोड़कर शेष समस्त स्त्रियोंके प्रसंगका त्याग करना, सो ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। तो जो पुरुष ब्रह्मचर्य अणुव्रत नहीं पाल सकता अर्थात् सर्वथा कुशीलका परित्याग नहीं कर सकता वह सद्गृहस्थ रहे श्रावक रहे। अपनी स्त्रीके सिवाय शेष समस्त स्त्रियों को मां बहिनकी तरह दृष्टि रखे और उनके प्रति अपने भाव खोटे न करे। इस तरह ब्रह्मचर्य व्रतको मूल पद्धतिके अनुसार बताया कि जो लोग ब्रह्मचर्य नहीं पालते वे अपनी हिंसा कर रहे हैं वीतराग सर्वज्ञदेवकी तरह निर्दोष और सर्वज्ञताकी सामर्थ्य रखने वाले अपने कारण समयसारकी हिंसा कर रहे हैं और आकुल व्याकुल होते हैं, इस कारण इसमें भी हिंसाका पाप है।

या मूर्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

मूर्च्छा लक्षण व मूर्छाकी परिग्रहरूपता—जो मूर्छा नामका परिग्रह है वह क्या है? मोहके उदयसे उत्पन्न हुआ ममत्व परिणाम। मोहकर्म दो प्रकार का है, एक दर्शन मोह और एक चारित्र मोह। दर्शन मोहके उदयसे आत्माकी दृष्टि विपरीत हो जाती है। है तो परपदार्थ और मानता है कि यह मैं हूं, यह विपरीत दृष्टि हुई। है तो यह भिन्न और मानता कि यह मेरा पदार्थ है तो इस तरह ममत्व परिणाम और अहंकारपरिणाम होते हैं वे सब पाप हैं। चारित्र मोहके उदयसे तो ममता जगती है और दर्शन मोहके उदयसे परको 'यह मैं हूं' इस तरहका परिणाम होता है, यही मूर्छा है। मूर्छा मायने बेहोशी। बेहोशी का अर्थ है अपनी सुध न रहना। मैं क्या हूं, मेरा स्वरूप क्या है, मेरा कर्तव्य क्या है इसकी सुध न रहने और अटपट क्रिया चले उसीके मायने मूर्छा है। जैसे कोई शराब पीने वाला अपनी सुध नहीं रखता और वह अटपट क्रिया करता है तो उसे लोग बेसुध कहते हैं। अब जरा इसी बातको आत्म-परिणाम में देखो। जो आत्मा अपनी सुध नहीं रख सकता, मैं आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप हूं, निराकुल हूं, जो सिद्धका स्वरूप है उस तरहके स्वरूप वाला हूं, दुःखका कहीं काम नहीं। आनन्द ही इसका स्वरूप है। ऐसी अपने आत्मा की तो सुध न हो सके और बाह्यपदार्थोंके प्रति मूर्छाका परिणाम जगे तो यह जो ममत्व परिणाम है उस ममत्व परिणामोंसे अपने आत्माकी, समयसारको परमात्मस्वरूपकी बहुत-बहुत हिंसा है इसी कारण यह आत्मा अपनी अनाकुलतासे मिल ही नहीं सकता है। तो ऐसा जो मूर्छाका परिणाम है वह भी हिंसा ही है। इसी को परिग्रह कहते हैं। तो परिग्रहके संचयमें, परिग्रहकी तृष्णामें, परिग्रह की दृष्टिमें आत्मा अपने चैतन्य प्राणका निरन्तर घात करता जा रहा है और इस बात का यह पता भी नहीं करता कि इससे मेरा कितना घात है, मेरी कितनी बरबादी है? होड़ लगाये जाते हैं बाह्य परिग्रहोंके जोड़नेमें हजारपति हैं तो लखपति होनेकी बात मनमें है लखपति हैं तो करोड़पति तथा करोड़पति हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तो अरबपति बननेकी बात मनमें बनी रहती है ।

व्यर्थका मूर्च्छाभाव—भैया ? व्यर्थका मूर्छापरिणाम इस जीवके साथ लगा है । है यहां किसीका कुछ नहीं, सभी यहांके प्राप्त समागम छूट जायेंगे, लेकिन उस वैभवमें मूर्छा बनी है । अपनी सत्ता, धन वैभव, परिजन, मित्रजनोंसे मानता है । कुटुबीजनोंके लिये तो अपना सर्वस्व ही अर्पण करने को तैयार रहते हैं । अपने कुटुम्बी-जनों के अलावा दूसरे लोग भी कोई जीव नहीं हैं, उनके लिये यह कुछ भी त्याग करने को राजी नहीं होता, तो यह कितनी बड़ी भारी मूर्छा है । जैसे गैर आत्मा हैं वैसा ही तो इन कुटुम्बी जनोंका आत्मा है । वेभी उतने ही भिन्न हैं, जितने कि अन्य सब जीव भिन्न हैं, लेकिन ऐसा मूर्छाका परिणाम इन जीवोंके साथ लगा है कि जिन्हें अपना स्वीकार किया है उनके पीछे तो अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं और बाकी जीवोंके लिये चित्तमें कोई कृपाका स्थान नहीं है और कुछ स्थान बाकी लोगों के लिये भी है तो वह अत्यन्त थोड़ा है । जैसा परिणाम घर वालोंके प्रति जगताहै उसकीतुलना में गैरोंके प्रति तो न कुछ के बराबर है । तो यह बेहोशी नहीं है तो और क्या है ? कोई कहे कि गृहस्थावस्थामें तो ऐसा करना पड़ता है और न करें तो क्या धन लुटा दें ? लेकिन यह पता नहीं कि धन आता कैसे है ? यह जीव तो जानता है कि मेरी कलासे, मेरे मन वचन कायके व्यापारसे, मेरी युक्तिसे धन आता है, लेकिन जिसके पुण्यका उदय सही है उसकेधन आता है और उदय नहीं है तो नहीं आता है । यदि गैरों की रक्षा करे, वहां चित्त दे तो उसके कहीं कमी नहीं आती है, सिर्फ एक विचार ही संकुचित बना लिया गया, फिर इतनी हिम्मत रखें कि जब तक हैं तब तक उदारभाव का सर्वत्र उपयोग करें और उसमें फिर जो भी हमारे ऊपर परिस्थिति आये हम उसीमें राजी हैं । क्या करना है इस बात को सोचकर कि मैं दूसरोंके लिये दय का परिणाम रखूंगा नहीं । दूसरोंके प्रति भी दयाका परिणाम जगे तो इसमें कौनसी कमी आती है ? मैं आत्मा अपने गुणोंसे सम्पन्न हूं, इन ही गुणोंके वैभवसे मैं वैभववान हूं । परपदार्थोंके कारण वैभववान नहीं हूं । तो मूर्छा नामक जो परिणाम है वह इतना बेवकूफी भरा परिणाम है कि उसमें अपने परमात्मस्वरूपकी हिंसा होती है ।

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ।।११२।।

मूर्छापरिणाममें परिग्रहत्वकी व्याप्ति—परिग्रहका अर्थ है मूर्छा । बाह्यपदार्थ पास होनेका नाम परिग्रह नहीं, भीतरमें जो ममता परिणाम लगा है, बेसुधी है यह है परिग्रह । पर बाह्यपरिग्रह जो अपने साथ लिपटा है वह मूर्छाके बिना नहीं रह रहा । तो बाह्य पदार्थोंमें मूर्छा है इस कारण परिग्रह है । चाहे बाहरसे कोई परिग्रह न दीख रहा हो, पर जिसके अन्तरङ्गमें मूर्छा परिणाम है उसके साथ तो परिग्रह लगा ही हुआ है । यह बाह्य परिग्रह तो अन्तरङ्ग मूर्छाका अनुमान कराता है कि इसके अन्तरङ्गमें मूर्छा है तभी तो देखो कितना परिग्रह लाते हैं । और जो दोष लगा हैं अन्तरङ्ग मूर्छा लगी है उसी से तो ये अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह इतने इतने दीख रहे हैं । बाहरी चीज से अथवा दूसरेकी प्रवृत्तिसे आत्मा को दोष नहीं लगता, किन्तु अपने आपका ही कोई अपराध हो तो उस अपराधसे दोष लगता है । कोई पुरुष नग्नरूप धारण किए हो, बाहरी परिग्रह पास में न हो, पर अन्तरङ्गमें मूर्छा हो तो वह परिग्रही कहलायेगा । जहां-जहां मूर्छा होती है वहां-वहां परिग्रह होता है यह नियम है । तो जिसके अन्दर मूर्छा है उसके नियमसे परिग्रह है और अगर किसीके अन्तरङ्गमें मूर्छा नहीं है, नग्न स्वरूप है, उसके ऊपर कोई कपड़ा उढ़ा दे तो वह परिग्रही न कहलायेगा । परिग्रह होता है जीवके अन्तरंग मूर्छा परिणामसे ।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वम् ।।११३।।

बाह्यपरिग्रहका मूर्छापरिणाममें निमित्तत्व—मूर्छा ही परिग्रह है । निश्चयसे तो बाह्यपरिग्रह कुछ भी परिग्रह नहीं होगा ? उत्तर—एकान्ततः ऐसा नहीं है, क्योंकि यह बाह्य परिग्रह मूर्छा का निमित्त तो बनता है ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कोई कहे कि बाहरी परिग्रह रखनेसे कोई दोष भी नहीं आता आत्मामें, तो रखे जावो बाह्य परिग्रह सो यह बात नहीं है, क्योंकि बाह्य परिग्रह जो रख रहा है उसके मूर्छा परिणाम है और मूर्छा परिणामसे परिग्रहका दोष है। परिग्रह दो प्रकारका है—एक अन्तरङ्ग परिग्रह और दूसरा बाह्य परिग्रह। तो बाह्य परिग्रह अन्तरङ्ग परिग्रह का विषय है। जैसे किसीको ममता जगी तो किसी पदार्थका नाम लेकर ही तो जगेगी। तो जिस पदार्थ को हमने अपने उपयोगमें लिया है वही पदार्थ बाह्यपरिग्रह है। तो तो बाह्य परिग्रहका ख्याल कर करके यह जीव ममता किया करता है। इस तरहसे बाह्य परिग्रह मूर्च्छापरिणाम रूप अन्तरङ्ग परिग्रहका कारण है। यह मूर्छा परिणाम अन्तरंग परिणामसे सम्बन्ध रखता है। इस मूर्छा की उत्पत्तिमें ये बाह्यपदार्थ कारणभूत है। तो कारणमें कार्य का उपचार किया अर्थात् बाह्यपदार्थोंमें मूर्छा नामक परिग्रहका उपचार किया तो वहां भी यह बात बनी कि मूर्छा है इसी का नाम परिग्रह है बाह्य पदार्थोंमें ममत्व किया उसीके मायने मूर्छा है। मूर्छा का अर्थ उदासीन नहीं। मूर्छाका अर्थ है अपने आप की सुध खो बैठना और बाह्य पदार्थोंमें अपनी दृष्टि लगाना इसीका नाम मूर्छा है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी लिखा है कि–'मूर्छा परिग्रहः'। मूर्छा का नाम परिग्रह है यह बात बिल्कुल युक्त है। बाह्य परिग्रह होते हुए परिग्रहका जो दोष लगा है वह बाह्य पदार्थोंके निकट होने के कारण नहीं लगा किन्तु अपने अन्तरंग में मूर्छा रहे उसके कारण इसे दोष लगा है। तो मूर्छा नामका जो परिग्रह है वह भी पाप है क्योंकि उसमें भी अपने प्राणोंका घात है और उस वैभवकी प्रीति के कारण दूसरे जीवों में जो विसम्वाद बनता है उनके प्राण घाते जाते हैं तो उन जीवोंकी भी हिंसा हो गयी। मुख्यतः तो अपने चैतन्यप्राणकी हिंसा है। अपना जो ज्ञान दर्शन है उसके विकास को रोक दे, उस वैभव प्रीतिके कारण आकुलता बनी रहती है, यह अपने आपकी बड़ी भारी हिंसा है। तो परिग्रहसे अपने प्राणोंकी हिंसा हो गई, अतः यह भी अधर्म है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेनैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छाऽस्ति ॥११४॥

परिग्रहके मूर्छालक्षणमें अतिव्याप्ति दोषका अभाव—कोई ऐसा प्रश्न करे कि बाह्य पदार्थोको अगर द्रव्य परिग्रह मान लिया जाय तो वीतराग अरहंत भगवान जिनके समवशरणकी इतनी बड़ी विभूति है उन्हें भी परिग्रही कहना चाहिये। क्योंकि बाह्य परिग्रहमें भी कारणमें कार्यका उपचार करनेसे परिग्रह नामक दोष लगता है, वह द्रव्यपरिग्रह है, तो द्रव्यपरिग्रह तो अरहंत भगवानके लग रहा है, फिर उन्हें परिग्रही कहना चाहिये। उसके उत्तर में यह कह रहे हैं कि वे कषायरहित पुरुष हैं, निर्दोष हैं। निर्दोष ऋषिजनों को किसी कारणसे कर्मवर्गणाओंका ग्रहण हो भी रहा है तो भी उनमें मूर्छा नहीं है। जहा-जहां मूर्छा है वहां-वहां नियमसे परिग्रह है, तो वीतराग पुरुषोंके जो आस्रव चलता है वह ईर्यापथ कहलाता है। अर्थात् आया और निकल गया। आत्मामें ठहरता नहीं है इसलिए बन्ध नहीं है और उसी समय आया, उसी समय निकल गया, मायने एक समय लगा तो उसे बन्ध नहीं कहते हैं। तो ऐसी व्याप्ति घटाना कि जहां-जहां मूर्छा नहीं है वहां-वहां परिग्रह नहीं है और जहां-जहां परिग्रह है वहां-वहां मूर्छा अवश्य है। कोई कहे कि हमने तो ज्ञान कर लिया, हमे जानते हैं कि पुद्गल पुद्गल है, आत्मा आत्मा है, बाह्य पदार्थ बाह्य है, मैं उनसे न्यारा हूं, बाह्य पदार्थ मेरे कुछ नहीं लगते, मेरे परिग्रहका दोष नहीं है, ऐसा कोई कहे तो उसकी बात यों असत्य है कि फिर किस परिणामकी प्रेरणासे ये धन, घर, वस्त्र आदिक लाद रखा है? अगर मूर्छा रहित हों तो परिग्रहका संचय नहीं कर सकते हैं। जहां जहां बाह्य परिग्रह रखे जा रहे हैं वहाँ वहां निमम से मूर्छा है। और जहां मूर्छा नहीं हैं वहाँ परिग्रह नहीं है। वीतराग सर्वज्ञदेवके जो भी समवशरण आदिक होते हैं उनकी रचना इन्द्रादिक देव करते हैं, वे खुशियां भी मनाते, सारे कार्य करते तो उनके क्या वह परिग्रह लग जायेगा? कभी नहीं, वीतराग सर्वज्ञके उसका परिग्रह नहीं लग सकता। इसलिए यह सिद्ध है कि जहां मूर्छा है वहां नियमसे परिग्रह है। मूर्छा परिणाम पशुवोंके भी हैं। एकेन्द्रिय दोएकेन्द्रिय जीवोंके भी है। तो जहाँ मूर्छा है वहां परिग्रह है। यह बताया था

http://www.jainkosh.org

अभी कि समवशरण आदिक जो रचे जाते हैं उसका परिग्रह दोष किसे लगता है ? आखिर चीज तो बाहर है, बाह्यपरिग्रह है। समवशरण आदिक की विभूतिमें जिसका मूर्छाका परिणाम जगता है उसका परिग्रह है। ये समवशरण इन्द्र कुबेर आदिक द्वारा चौथे कालमें रचे जाते थे, आज पंचमकालमें तो नहीं रचे जाते, आज कल तीर्थंकर भगवान नहीं होते तो उनका समवशरण भी नहीं है, लेकिन वे देव इन्द्र कुबेर आदिक अब निवृत्तकार्य नहीं हैं कि चलो उनका यह काम समाप्त हो गया, वे आरामसे रहें। उन्हें तो प्रभु सेवामें रहकर बड़ा आराम मिलता है। ढाई द्वीपमें जन्म कल्याणक, तप कल्याणक, गर्भकल्याणक मनाना आदिक चलता रहता है। भरत ऐरावत क्षेत्र में तो एक समयमें थोड़े ही तीर्थंकर होते हैं। जैसे ढाई द्वीपमें ५ भरत क्षेत्र हैं, ५ ऐरावत क्षेत्र हैं तो अधिकसे अधिक १० तीर्थंकर होते हैं, किन्तु विदेह क्षेत्रमें १६० नगरी हैं, वहां एक-एक तीर्थंकर हो तो १६० तीर्थंकर एक समयमें हो सकते हैं, तो उन देवोंको भगवानकी सेवा करनेका अवसर मिल जाता है, तो वे देव धर्मकार्यमें लगे रहते हैं, समवशरणकी रचना किया करते है। जैसे यहांके ५ कल्याणकके धारी तीर्थंकर होते हैं, विदेह क्षेत्रमें भी ५ कल्याणकके धारी होते हैं प्रायः करके। किसी ने गृहस्थावस्थामें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर लिया तो उसको गर्भ व जन्म कल्याणक नहीं मिला। उनके तप कल्याणक, ज्ञान कल्याणक और निर्वाण कल्याणक होते हैं। किसीने मुनिपदमें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर लिया तो उसके सिर्फ ज्ञान व निर्वाण—ये २ कल्याणक होते हैं। ऐसे कम कल्याणक वाले तीर्थंकर कम ही होते हैं। अधिकतर ५ कल्याणकके धारी तीर्थंकर होते हैं। १६० तीर्थंकर वहां एक समयमें हो सकते हैं, पर कमसे कम २० सदा रहते हैं, उसका कारण है कि विदेहक्षेत्र ५ हैं और उनके दो दो भाग हो गए—एक पूरब और एक पश्चिम। पूरबमें १६ नगरी, पश्चिममें १६ नगरी, यों प्रत्येक विदेहमें ३२ नगरी हैं, यों ५ विदेहके १६० नगरी होती हैं। तो कहा यह गया कि जहां मूर्छा है उसके परिग्रह है। समवशरण रचने वाले देव तो चाहे परिग्रही हो जायें, परन्तु वीतराग सर्वज्ञदेवके मूर्छा नहीं है इस कारण उनके परिग्रहका दोष नहीं है।

अतिसंक्षेपाद्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥ ११५ ॥

परिग्रहके प्रकार—समस्त अनर्थोंका मूल परिग्रह है। परिग्रह दो प्रकारके हैं—एक अन्तरंग परिग्रह और एक बाह्य परिग्रह। अन्तरंग परिग्रह १४ प्रकारके होते हैं। अन्तरंग परिग्रह कहलाता है आत्माका परिणाम। आत्माका जो विकारी परिणाम है वह तो है अन्तरंग परिग्रह और आत्मासे अलग जो बाहर में चीजें पड़ी हैं वह है बाह्यपरिग्रह। तो अन्तरंग परिग्रह १४ प्रकारका बताया गया है। १४ प्रकारका अन्तरंग परिग्रह और १० प्रकारका बाह्य परिग्रह। इस तरह परिग्रहके २४ भेद हैं। अन्तरंगके परिग्रह मायने विकार परिणाम। जीवका जो विकार परिणाम है उसे अन्तरंग परिग्रह कहते हैं। बहिरंग परिग्रह का संक्षेप करें तो वह दो प्रकारका है एक चेतन और एक अचेतन। आत्माके विकार परिणाम तो अन्तरंग परिग्रह हैं और चेतन अचेतन परिग्रह बाह्य परिग्रह हैं।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यान्तरा ग्रन्थाः ॥ ११६ ॥

अन्तरङ्ग परिग्रहके भेद व मिथ्यात्व नामक प्रथम परिग्रहके चिह्न—मिथ्यात्व, वेद परिणामके तीन भेद, हास्यादिक ५, ४ कषायें ये अन्तरंग परिग्रह के १४ भेद हैं। ये समस्त अन्तरंग परिग्रह मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं। कर्म ८ प्रकारके माने गये हैं, उन सबमें मोहनीय कर्म अत्यन्त प्रबल है। जीवका बंध मोहनीय कर्मके उदयसे होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इन ७ प्रकार के कर्मोंके उदयसे बंध नहीं होता है। मोहनीय कर्मके उदयसे जो विकार परिणाम होते हैं उनसे बंध होता है। यों समझ लो कि मोहनीय कर्मके उदयसे जो विभाव परिणाम बनते हैं वे सब अन्तरंग परिग्रह हैं। मोहनीय कर्म हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दो प्रकार के—दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उदय से हुआ मिथ्यात्व और चरित्रमोहनीयके उदयसे होते हैं २५ तरह के परिणाम। १६ कषायें जिनकी ४ में ले लें—क्रोध, मान, माया, लोभ। हास्यादिक ६ हैं, ये १३ परिग्रह हुए चारित्र मोहके और एक मिथ्यात्व परिग्रह हुआ दर्शन मोहका। यों १४ प्रकारके अन्तरंग परिग्रह हैं। उन्हें अन्तरंग परिग्रह क्यों कहा? यों कि आत्माके अन्दर ही ये विभाव उत्पन्न होते हैं। आत्माके उपादानमें होते हैं, कर्मोदयका निमित्त पाकर होते हैं सो औपाधिक भाव हैं। जो कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर आत्मामें विभाव परिणाम होते हैं वे सब अन्तरंग परिग्रह कहलाते हैं। अपने आत्मामें और परपदार्थोंमें भेद न मान सकना, इस देह को ही आत्मा मानना आदिक जो विभाव परिणाम होते हैं सो मिथ्यात्व हैं। २४ प्रकारके परिग्रहोंमें मिथ्यात्व को छोड़कर जो शेष २३ प्रकारके परिग्रह हैं उन्हें अपनाना इसीको मिथ्यात्व कहते हैं। सभी परिग्रहोंमें जबरदस्त परिग्रह मिथ्यात्वका है। जब मिथ्यात्व परिणाम दूर हो जाता है तो शेषके २३ परिग्रह अपने आप धीरे-धीरे दूर होने लगते हैं। जब मिथ्यात्व नामक परिग्रह दूर हो जाता है तो कषायें भी धीरे-धीरे दूर होती हैं। सभी परिग्रहोंकी जड़ मिथ्यात्व है। बाह्य पदार्थोंको अपनाना, यह शरीर ही मैं हूं, ऐसा अनुभव करना सो मिथ्यात्व है।

नव नोकषायरूप परिग्रहका निर्देशन— मिथ्यात्वके बाद बताया है स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद सम्बन्धी राग। हैं ये तीनों एक ही बात है पर, इसके तीन भेद कर दिये गए। इस रागमें दूसरेके शरीर सुहाते हैं। तो तीन प्रकारके ये परिग्रह हुए। फिर बताया है ये हास्यादिक ६। हास्य मायने है हंसी। अपने आप बहुत ज्यादा हंसना यह भी परिग्रह है, तो हंसनेका परिणाम विभाव है, उसमें खुशी मानते हैं तो यह हुआ हास्यपरिग्रह। एक है रति परिग्रह। कोई इष्ट मित्र है, बन्धु है, पुत्र है ये सुहाते हैं तो यह सब रति परिग्रह है। परिग्रहमें मूर्छाका लक्षण घटाना चाहिए। जब रति परिणाम होता है तो उसमें भी आत्माकी बेसुधी है। एक है अरति परिग्रह। जो चीज न सुहाये उसमें द्वेष होवे, देखना न चाहे, किसी से कुछ अपने विषय साधनामें विरोध हो गया या विघ्न डाल दिया तो उससे मुख मोड़े, अप्रीति करें उसे अरति परिग्रह कहते हैं। आप कहेंगे कि अरतिको क्यों परिग्रह कहा? उसमें अपनाया तो नहीं जा रहा है। पर भाई उसने अपने अन्तरंग परिणामोंसे नहीं त्यागा, उसे तो वह पुरुष कुछ कारणोंसे सुहाया नहीं, इसलिए उसे अलग किया, यह तो ठीक है, पर न सुहाया, ऐसा जो भीतरमें परिणाम हुआ वह परिणाम तो सुहा रहा है। घृणाका, जुगुप्साका भीतर में जो भाव है उसे बसाया जा रहा है इसलिए वह अन्तरंग परिग्रह है। एक शोक परिग्रह है। इष्टका वियोग व अनिष्टका संयोग होनेसे चित्तमें जो शल्य बस जाती है उसका नाम शोक है। शोकमें दो प्रकारके परिणाम होते हैं। संयोग की वाञ्छा करना और वियोगकी वाञ्छा करना, यों संयोग और वियोग दोनों ही शोकके आधार हैं। एक भय परिग्रह है। अपने को जो इस लोक और परलोकमें किसी बातमें कोई विघ्न देने वाला हो उससे डरना इसे भय परिग्रह कहते हैं। तो भय नामक जो परिणाम होता है तो आत्मा मूर्छित हो जाता है, अपने आपकी सुध नहीं करता, घबड़ाता है, बेचैन होता है, तो भय भी एक परिग्रह है। इसी प्रकार घृणा करना भी एक परिग्रह है। मामूली चीजमें, बड़ी चीजमें सभीमें जो ग्लानिका परिणाम है वह जुगुप्सा परिग्रह है। कोई पुरुष गन्दा है अथवा साधुजनोंका, मुनिजनोका शरीर गन्दा हो अथवा रोगी हो, दुःखी हो उनसे ग्लानि करना तथा कफ थूक आदि किसी चीजसे ग्लानि करना ये सब ग्लानि परिग्रह हैं।

क्रोध मान माया लोभ कषाय परिग्रह—संसारी जीवके साथ ४ प्रकारकी कषायें लगी हैं क्रोध, मान, माया–लोभ ये भी परिग्रह हैं। जब जीव क्रोध करता है तो अपने आपको भूल जाता है और वह चाहता है कि मैं दूसरेका बिगाड़ कर दूं, मैं इसकी खबर ले लूं, तो क्रोधमें दूसरेके बिगाड़का परिणाम होता है जिससे अपना बिगाड़ निश्चित है, दूसरेका बिगाड़ हो या न हो। जैसे कोई आग उठाकर दूसरेको मारता है तो चाहे वह दूसरा न जले

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पर उस मारने वालेका हाथ जरूर जल जाता है। ऐसे ही क्रोध करने वाले के यह ज्ञान नहीं जग पाता कि इससे मेरा ही बिगाड़ है, इसी प्रकार मान कषाय है, अभिमानका परिणाम यह परिग्रह है, क्योंकि अभिमान करते समय यह जीव अपना बड़प्पन रखनेका भाव करता है और दूसरेको तुच्छ गिननेका भाव रखता है; तो इसे अभिमान परिग्रह कहा गया है। यह विकार परिणाम है, अहंकार है इसलिये परिग्रह है। तेरहवाँ है मायाचारका परिग्रह। मायाचारमें छल कपटकी बात है। ऐसा मायाजाल रचना कि किसी को कुछ पता न पड़े, दूसरोंको भड़का देना, दूसरोंमें मित्रताका भाव पैदा न होने देना, ये सब बातें मायाचार में आती हैं और यह जीव मायाचारको अपनाता है। भीतर में उन भावोंका गुंतारा लगाता रहता है, उसीमें रमता रहता है। तो मायाचार भी अन्तरंग परिग्रह है और लोभ भी अन्तरंग परिग्रह है। लोभ में बाह्य पदार्थोंको अपनाना इसका नाम लोभ है। लोभका दूसरा नाम लालच भी है। लालचमें यह जीव कायर बनता है। लोग लालचको स्पष्ट जानते हैं। एक कहावत भी प्रसिद्ध है लोभ पापका बाप बखाना। इस प्रकार ये अन्तरंग परिग्रह १४ प्रकारके कहे गये हैं। अब बाह्यपरिग्रह कौन है जिसके कि मूलमें दो भेद किए गए थे—एक चेतनपरिग्रह और एक अचेतन परिग्रह। उन परिग्रहों को बताते हैं—

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसा ॥ ११७ ॥

बाह्य परिग्रहके प्रकार और उनके प्रसंगमें हिंसाका दोष—बाह्य परिग्रह दो तरहके हैं—एक सचेतन और एक अचेतन। ये दो प्रकारके परिग्रह हिंसा ही हैं। अन्तरंग परिग्रह भी सब हिंसा है और बाह्य परिग्रह ये हिंसाके कारण होनेसे हिंसा हैं, क्योंकि हिंसा नाम है अपने आपके परमात्मस्वरूप का विकास न होने देना। ज्ञान और आनन्दका घात करना इसका नाम है हिंसा। आत्माका प्राण है ज्ञान, दर्शन अथवा चैतन्य। उस चैतन्यका घात करना, उसका विकास न होने देना इसका नाम है परिग्रह। अहिंसा का जहाँ रूप होता है वहां ज्ञान और दर्शनका पूरा विकास होता है। जैसे अरहंत भगवान अहिंसाकी मूर्ति हैं। परम अहिंसा कषाय रहित मुनिके हैं। जहां १४ प्रकारके अन्तरंग परिग्रह नहीं हैं, बाह्यपरिग्रह भी नहीं हैं। समस्त परिग्रहोंसे रहित जो संतजन हैं वे परम अहिंसक कहलाते हैं। अहिंसाका अर्थ है रागादिक भाव उत्पन्न न होना। ज्ञानानन्दस्वरूप जहाँ बढ़ता है वहाँ रागादिक दूर होते है। जहां रागादिक दूर होते हैं वहां ही ज्ञानानन्द बढ़ता है। तो आत्माके ज्ञानदर्शन गुणका घात हो जाने से ये अन्तरंग १४ प्रकारके परिग्रह हैं और बहिरंग भी १० प्रकारके परिग्रह हैं। जिसे संक्षेपमें दो भागोंमें बाँट दिया गया है। परिग्रहका अर्थ है जो चारों तरफ से जकड़े अर्थात जो चारों ओरसे ग्रहण करे। तो परपदार्थोंका जो ग्रहण करना है उसका नाम परिग्रह है। जब जीवके विकार परिणाम होता है उस समय यह जीव चारों तरफसे कुछ न कुछ ग्रहण करना चाहता है। जैसे व्यापारी लोग व्यापार करते हैं तो चारों ओर से आमदनी हो, भाव बढ़े, कमती बढ़ती देनेसे लाभ हो. उसमें भी कोई हिसाब भूल जाये उसका लाभ हो, यों चारों ओरसे ग्रहण करनेका भाव परिग्रही पुरुषोंका होता है और जब परिग्रह है तो जीवके चारों ओरसे शरीरका और कार्माणवर्गणाओंका ग्रहण होता रहता है। जब विभाव परिणाम हास्यादिक कषायादिसे जो कर्मका बन्धन होता है वह आत्माके सर्वप्रदेशोंमें चारों ओर से होता है। कोई ग्रहण करनेका एक ही रास्ता नहीं है। जिस कालमें जीवके विभावपरिणाम होते हैं उसी कालमें आत्मामें ठहरी हुई कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं। इस संसारमें ऐसी अनेक सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें हैं जो जीवका विभाव पाकर कर्मरूप बन जाती हैं। ऐसी कार्माणवर्गणायें आत्मामें दो प्रकार की हैं—एक तो वे जो कर्मरूप हो चुकी हैं और एक वे जो कर्मरूप होने की उम्मीदवार हैं। जो कर्मरूप होनेकी उम्मीदवार हैं उन्हें कहते हैं विश्रसोपचय। विश्रसोपचय मायने स्वभावसे उनका संग्रह बना होता है। जब जीव मरता है तो शरीर छोड़कर तो जाता ही है, पर साथमें तैजस और कार्माण शरीर ले जाता है। तो कार्माणशरीर उन कर्मों को लिये

http://sahjanandvarnishastra.org/

हुए है तो कर्मरूप बन गए हैं पर साथ ही साथ विश्रसोपचय कार्माण वर्गणायें भी जाती हैं । मरणके बाद जीवके साथ कर्म तो जाते ही हैं मगर कर्मरूप बनने की उम्मीदवार जो कर्मरूप वर्गणायें हैं वे साथ जाती हैं। जहां विभाव परिणाम किया वहां वह कर्मरूप बन गया। रास्तेमें जा रहे हैं और कर्मरूप जो बन रहे हैं उनको लेकर जा रहे हैं तो विग्रह गतिमें भी विभाव परिणाम है तो वहां कर्म बन्धन कैसे हुआ ? जीवके साथ ऐसी कार्माणवर्गणायें जाती हैं जो अभी कर्मरूप नहीं हैं पर कर्मरूप बनेंगी और जो कर्मरूप हैं वे भी साथ जाती हैं । तो दो प्रकारकी ये कार्माणवर्गणायें इस जीवके साथ लगी हैं। जब विभाव परिणाम हुआ तो कर्म चारों ओरसे बंध जाते हैं । इस प्रकार इस समय विभाव परिणाम जीवों के हम आपके शरीरके भी परमाणुका चारों ओरसे ग्रहण करना चाहते हैं। खाकर आये, मालिश करके आये, किसी तरह बाहरके अणु हमारे शरीरमें आ जायें इन्जेक्शन देकर, ग्लुकोश लेकर, आहार लेना, इस प्रकारसे आहार लेनेके लिए इस जीवके चारों ओरसे प्रयत्न होते हैं। तो चेतन अचेतन सभी परिग्रहोंको जो अपनाते हैं वे सब परिग्रह हैं।

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिप्रवचनज्ञाः ।। ११८ ।।

परिग्रहोंके त्यागमें अहिंसा और परिग्रहोंके वहन में हिंसा—जो जिन प्रवचन के ज्ञाता हैं, जैन सिद्धान्त के ज्ञानी आचार्यपुरुष हैं वे दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करते हैं । इन्हीं परिग्रहोंके त्यागका नाम अहिंसा है। १० बाह्य परिग्रह कौनसे हैं ? खेत, मकान, गाय, भैंस, धन, अनाज, सोना, चांदी, बर्तनभांडे, दासी दास दाम कपड़े ये सब बाह्य परिग्रह हैं। जो भी बाहरमें चीजें मौजूद हैं वे सब बाह्य परिग्रह हैं। उनके कैसे ही भेद बना लो तो बाह्य परिग्रहों का ढोना और अन्तरंग परिग्रहों का ढोना, ये सब हिंसा कहलाते हैं। और दोनों प्रकारके परिग्रह न हो तो वह अहिंसा कहलाती है। जहां मिथ्यात्व नहीं है, किसी प्रकार का कषाय परिणाम नहीं है वह परिणाम कितना उज्जवल होता है ? वहां एक आत्मीय आनन्दका अनुभव होता है, विशुद्ध ज्ञान चलता रहता है, ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति रहती है। पदार्थ जाननेमें तो आ रहे पर उनकी पकड़ नहीं है, विकल्प नहीं है ऐसा निर्विकल्प ज्ञाता द्रष्टा रहनेका परिणाम जगता है तो सच्ची अहिंसा इसही परिणामसे समझी जाती है। किसी भी परवस्तुमें रागादिक न हों और अपने आपमें विशुद्ध ज्ञानका प्रकाश बना रहे जिसके प्रतापसे शुद्ध आनन्दका अनुभव होता है उसे अहिंसा कहते हैं। इसे क्षोभरहित परिणाम कहो, अहिंसा कहो, धर्म कहो, रत्नत्रय कहो, शान्ति कहो, यह सब एक ही बात है। अहिंसा शान्तिका कारण है तो उस शान्तिको पानेके लिए हमें पांचों प्रकारके पाप जो एक हिंसा नामसे कहे गये हैं इनका त्याग करें और अपने आत्मामें ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति बनायें, यही अहिंसा की मूर्ति है। ऐसा जैन सिद्धान्तके ज्ञाता विद्वान् पुरुषोंका उपदेश है। एक परिग्रहका बोझ हुआ करता है । जैसे कोई बाह्यमें परिग्रह लाद ले तो बड़ा बोझ हो जाता है। इसी प्रकार अन्तरंगमें चिंता, शोक, भय आदिक हों, कषायें जगें तो उससे भी आत्मापर बोझ पड़ता है। दबाव है, किंकर्तव्यविमूढ़ता है, वहां एक अपने आपमें रीतापन अनुभव किया जाता है। जैसे बाह्य परिग्रह ढोने में बोझ है इसी प्रकार अन्तरंग परिग्रह ढोनेमें भी बोझ है। कितना कषायोंका बोझ ये अज्ञानी जीव लादे हैं और उसे खुश होकर ढोते फिरते हैं । कषायें न हों तो यह जीव तुरन्त शान्तिका अनुभव करता है। कषायोंके अभावसे क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच आदिक गुण प्रकट होते हैं । क्रोध और क्षमामें अन्तर देखिये। जब अपने आपको क्रोध आता है तो अपनी गल्ती नहीं महसूस होती, पर दूसरा कोई अगर क्रोध कर रहा हो तो झट उसकी गल्ती महसूस हो जाती है, उस दूसरेकी गल्ती देखकर हँसते हैं । जब तक अपनेमें क्रोध भाव है तब तक आत्मामें क्षमा गुण नहीं प्रकट होता। इस तरह चित्तमें जब घमण्ड होता है तो चाहे बरबादी हो जाय पर अपनी हठ जरूर रखना चाहिए, ऐसी बात आ जाती है। जब तक अंहकार है तब तक नम्रता नहीं उत्पन्न होती इसी प्रकार जब तक मायाचार है तब तक सरलता नहीं उत्पन्न होती। उसमें धर्मभाव नहीं ठहर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सकता। इसी प्रकार जब तक लोभ कषाय है तब तक सद्बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। तो ये १४ प्रकारके अन्तरंग परिग्रह और १० प्रकारके बाह्य परिग्रह इनका बोझ इस जीव पर है। इन कषायोंको हटाये तो यह जीव भाररहित होगा, तभी अपने आपके विशुद्ध स्वरूपका दर्शन करेगा और तभी सच्चे आनन्दका अनुभव होगा। ऐसे अनुभवके लिए हमारा कर्तव्य है कि हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह—इन पांचों प्रकारके पापोंका त्याग करें।

हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम् ॥ ११६ ॥

अन्तरङ्गपरिग्रहों की स्वयंसिद्ध हिंसारूपता एवं बहिरङ्ग परिग्रह मूर्छाकी हिंसारूपता—५ पाप जो बताये गए—हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह, ये पांचोंके पांचों पाप हिंसा कहलाते हैं। इनमें हिंसा नामका पहिला पाप है—उसका अर्थ है दूसरे जीवोंको मारना सताना पीटना। इसमें खुदका परिणाम बिगड़ता है। खुदके संक्लेश परिणाम होनेका नाम हिंसा है, इसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह वगैरहमें अपने परिणाम बिगड़ते हैं इसलिये वे सब हिंसा हैं। उनमें परिग्रह जो ५ वां पाप है उसके दो भेद किए—अन्तरंग और बाह्य परिग्रह। अन्तरंग परिग्रह हुआ मिथ्यात्व और ४ कषायें और ६ नवकषायें। ये सब हिंसा हैं ही। इसमें कोई तर्क करने की बात नहीं क्योंकि जहां कषाय है वहां अपने चैतन्य प्राणका घात है, अपने परमात्मतत्त्वका घात है, अतएव हिंसा है। किन्तु जो बहिरंग परिग्रह हैं खेत मकान धन धान्य आदिक ये परिग्रह स्वयं हिंसा नहीं हैं, क्योंकि परिग्रहमें जो मूर्छा परिणाम होता है वह परिणाम हिंसा है। जो कोई बाह्यपरिग्रह रखता है उसके अन्तरंगमें मूर्छा परिणाम है तभी तो बाह्य परिग्रह रखता है। इसलिये कारणमें कार्यका उपचार करके उन्हें हिंसा कहा है। वास्तवमें हिंसा तो भाव हिंसा ही हिंसा कहलाती है और भावहिंसा परिग्रहमें काफी है। अज्ञान अवस्थामें अगर हिंसा होती है तो अज्ञान खुद हिंसा है। ज्ञानी पुरुष ईर्यासमिति से चलता है, जीवदया का परिणाम रखकर चलता है। इसलिये उसके द्वारा कदाचित् किसी छोटे जीव की हिंसा भी हो जाए तो वह हिंसा नहीं मानी गयी है। कोई कहे कि अनजानमें अगर किसी जीव की हिंसा हो जाए तो उसमें पाप न लगना चाहिए, मगर ऐसी बात नहीं है। इसी तरह झूठ बोलनेमें तो इरादा करता ही है यह जीव कि मैं झूठ बोलूं। तो झूठ बोलने में हिंसा है। अगर कोई झूठ कषायरहित हो तो उसमें भी हिंसा नहीं है। जैसे शस्त्रका प्रकरण चल रहा है। बड़ी सूक्ष्म चर्चायें होती हैं। जैसे धवलमें बताया किसी आचार्यने कि १६ प्रकृतियों का वास है, किसी जगह आचार्य ने बताया कि ८ प्रकृतियों का का बास है। अब इन दोनोंमें कोई एक किसी अन्य आचार्यके विचारसे मिल जाए तो एकका विचार झूठ न कहलायेगा, क्योंकि उसका झूठ बोलनेका इरादा नहीं है। तो हिंसा तो परिणामोंपर निर्भर है। जैसे कोई पुरुष किसीसे बातचीत करने में लग गया, किसीकी चीज अपने हाथ में ले ली, अपने घर चला आया। घर आने पर जब उसने उस वस्तुको देखा तो ध्यान आया। ओह ! अमुकको अमुक चीज भूलसे मेरे पास आ गयी, वह जाकर उसकी चीज उसके पास पहुंचा देता है। तो चूंकि उस पुरुषका चोरी करनेका परिणाम न था, अतः चोरी करनेका पाप उसे नहीं लगा। कोई चोरी करता है तो अपने परिणाम बिगाड़कर ही करता है इसलिये चोरी करनेमें हिंसा है। कुशील भी हिंसा है। क्योंकि कुशीलसेवनमें अपने आत्माकी सुध नहीं रहती। परिग्रहमें भी ममता परिणाम है। वस्तु तो भिन्न है और मानना कि यह मेरी है, ऐसे मिथ्या अभिप्राय के कारण परिग्रह भी हिंसा है। अन्तरंगमें जो १४ प्रकारके विभाव परिणाम बताये वे तो हिंसा हैं ही, पर बहिरंगमें जो खेत मकान आदिक हैं उनमें चूंकि ममत्व परिणाम होता है इसलिये वे बाह्यपरिग्रह भी हिंसा हैं, लेकिन किसी मुनि पर कोई वस्तु डाल दी यदि हार, वस्त्र आदिकसे कोई उस मुनिका शृंगार करदे तो भी चूंकि अन्तरंगमें उनके प्रति ममत्व परिणाम नहीं है, इसलिये उन्हें परिग्रहका दोष न लगेगा। अरहंत भगवान बड़े शृंगारयुक्त समवशरण विराजमान होते हैं पर उन्हें परिग्रहका दोष नहीं लगता, क्योंकि उसके प्रति ममताका परिणाम अरहंत भगवानके नहीं है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एवं न विशेषः स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छा विशेषेण ॥ १२० ॥

ममत्वपरिणामोंकी विशेषतासे बिलाव हरिण आदि जीवोंके हिंसा में विशेषता—अब यहाँ कोई यह प्रश्न करता है कि जब अन्तरंग ममत्वका ही नाम परिग्रह है और अन्तरंग परिणामसे ही हिंसा होती है तो बाहरमें कोई कैसी भी हिंसा करे वे सब समान हो गईं। चाहे बिल्ली ने चूहा पकड़कर खाये और चाहे हिरणके बच्चे ने घास खाया, इनमें कुछ फर्क तो न डालना चाहिए। रही भीतरकी बात तो भीतरमें जो होता हो, हो। ऐसी कोई शंका करे तो उत्तरमें आचार्यदेव कहते हैं कि यह तर्क ठीक नहीं है, जब कि उन दोनोंकी भोजनकी मूर्छामें फर्क है। याने बिल्ली भी अपना खाद्य खाती है, चूहा आदिक शिकार करती है वह पेट भी भरती है, हिरनका बच्चा भी घाससे अपना पेट भरता है, तो दोनोंने अपना पेटही तो भरा, यह बराबर की बात है। लेकिन उस बिल्लीके पेट भरने में विशेष मूर्छा है और हिरणका बच्चा उस घाससे अपना पेट भरनेमें उतनी तीव्र मूर्छा नहीं रखता। इसी बातको और भी बतला रहे हैं।

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा ।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥ १२१ ॥

मूर्च्छापरिणामकी विशेषतासे हिंसा और परिग्रहमें विशेषताका उदाहरण—पहिले तो यह देखिये कि हिरण का बच्चा जो घास खाता है वह घासकी खोजमें अधिक नहीं रहता, जैसे बिल्ली चूहे को बहुत लुक छिपकर यहां वहां ढूंढ़ती फिरती है. उस तरहसे यह हिरणका बच्चा घासके लिये खोज नहीं करता और न उतनी आसक्तिसे वह खाता है, क्योंकि थोड़ी भी आहट किसी हिंसक जीवकी पाये तो उस घासको छोड़कर तुरन्त भाग जाता है। बिल्लीका तो बहुत क्रूर परिणाम होता है। उसे अगर अपना खाद्य मिल जाय तो इतनी आसक्ति रहती है कि कोई उसके सिर पर लट्ठ भी पटके तो भी नहीं छोड़ती है। इसके अलावा इतना क्रूर परिणाम होता है बिल्लीका कि चूहे को पकड़ ले तो जल्दी खाती नहीं है, सता कर, खेलकर तोड़कर खाती है। तो यह जो भीतरमें क्रूरता पड़ी हुई है उसकी उसे हिंसा लगी। उसी क्रूरताके कारण पंचेन्द्रीय जीवों तकका वह बिल्ली भक्षण करती है। एक जीव दूसरे जीवको खाये तो उसे बड़ा संक्लेश परिणाम करना पड़ता है। तो तीव्र संक्लेशमें भी हिंसा है और अज्ञान हो तो अज्ञान में महाहिंसा है ही। इससे जीवका बध जो करता है उसके परिणाममें अवश्य संक्लेश है, आसक्ति है इसलिये उसे हिंसा लगती है। तो जैसे हिंसामें दो भेद पड़ गये कि किसीको तीव्र हिंसा लगी, किसी को मन्द हिंसा लगी। इसी प्रकार परिग्रहमें भी दो भेद पड़ जाते हैं—किसी को ज्यादा मूर्छा है किसीको कम। जिसके अधिक मूर्छा है उसके अधिक पाप है और जिसके कम मूर्छा है उसके कम पाप है। मूर्छा नाम इसलिये रखा है कि उसमें बेहोशी रहती है। उसे अपनी भी कुछ सुध नहीं रहती है। परिग्रहकी मूर्छामें दूसरेका तिरस्कार करे, दूसरे को नीचा गिने, अपना अहंकार बढ़े, गरीबोंको सताये, ऐसी अनेक बातें करनी पड़ती हैं, वह मूर्छा हैं, पर ज्ञानी जीव ऐसे परिग्रही को देखकर उस पर दया ही करता है कि देखो इसे सम्यग्ज्ञान नहीं है। इसलिए बाह्यपरिग्रहमें इतनी मूर्छा लगाय हैं जो कि निःसार है। परिग्रह किसीका बनकर रहता नहीं। कुछ समयको मिला है, कुछ समय बाद समाप्त हो जायेगा लेकिन इस परिग्रहमें इतनी मूर्छा रखकर यह जी इतनी बरबादी कर रहा है जिससे जन्म मरणकी परम्परा बढ़ायेगा। अज्ञानी जन तो धनीको देखकर ईर्ष्या करते हैं कि मैं क्यों ऐसा न हो गया, पर ज्ञानी जीव परिग्रहीको देखकर दया करता है कि देखो ज्ञान न होनेसे यह कितना बाह्यमें फंसकर दुःखी हो रहा है। तो जिसके ममत्व परिणाम है उसको उसी प्रकारका परिग्रह है और वैसी ही हिंसा लगती है।

निर्बाधं संसिद्धयेत्कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्य खण्डयोरिह माधुर्यप्रीतिभेद इव ॥ १२२ ॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कारणविशेष से कार्यमें विशेषताकी संसिद्धि—यह बात निर्बाध तथ्य है कि कारण अगर विशेष हो तो वहाँ कार्य विशेष होता है, जैसे दो भोजन रखे हैं, मान लो एक सीधी सूखी रोटी रखी है और एक मीठा रखा है तो मीठा खानेमें तीव्र रुचि होगी। इसी प्रकार जो हिंसक लोग हिंसा करते हैं तो उनको आसक्ति ज्यादा करनी पड़ती है तब हिंसा होती है तो जो कारणका भेद है उससे भी कार्यमें भेद पड़ता है। इसी प्रकार परिग्रहकी बात है। कोई बहुत बढ़िया कपड़े पहिने ऊंची कीमतके तो उनमें प्रीति अधिक रहती है। जैसे कोई कीमती जूते पहिने हैं तो मंदिरके नीचे उन जूतोंको उतार देने पर उसका कुछ न कुछ ध्यान तो उन जूतोंपर ही बना रहता है, और जो साधारण जूते पहिने है वह मंदिरमें जहां चाहे बड़े आरामसे रहता है, ऐसे ही कीमती वस्त्र पहिनने पर उससे अधिक प्रीति होनेके कारण उसकी बड़ी संभाल करनी पड़ती है और कोई साधारण वस्त्र पहिने है तो जहां चाहे निश्चिन्त होकर प्रेमसे बैठ जाता हैं। तो ऐसे ही कोई मुनि बढ़िया चमकीला कमण्डल रखे तो उसमें उस मुनिके कुछ न कुछ प्रीतिका परिणाम आ जायेगा, वह उसे प्रीतिपूर्वक रखेगा और जिस मुनिने यों ही साधारण सा कमण्डल रखा है वह उसमें विशेष प्रीति नहीं रखता है तो जहां कारण विशेष हो वहां उस प्रकारका कार्य विशेष रहता है।

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये।
सैवात्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

कारणविशेषसे कार्यविशेष होनेका एक उदाहरणरूपमें विवरण—जो मन्द मिठास वाली चीज है उसकी मिठासमें रुचि थोड़ी होती है और जिसमें मिठास अधिक है उसमें मीठा खानेकी रुचि विशेष होती है। इस बातमें दृष्टान्त देते हैं दूध और खांड का। दूधमें कम मिठास है और खांडमें अधिक मिठास है। तो दूधकी अपेक्षा खांड खानेकी रुचि ज्यादा होगी क्योंकि उसमें मिठास अधिक है। मिठाई जैसी चीजके सामने यह परिणाम रहता है कि मैं अधिकसे अधिक खाऊं। तो जैसे मीठा रसके लोलुपी पुरुष को दूध की अपेक्षा शक्करमें अधिक प्रीति होती है ऐसे ही समझो कि बाह्य परिग्रहमें जो अल्परुचि वाले पुरुष हैं उनका परिणाम अल्प होता है और जो विशेष रुचि वाले हैं उनमें विशेष रुचि होती है। तो जैसी रुचि होती है वैसा ही परिग्रहका पाप लगता है। अन्तरंगमें रुचि कम है बाह्यके प्रति तो परिग्रहका दोष कम बताया है। जैसे कोई बड़ा साफ कपड़े पहिने है तो वह किसी भी जगह हो, बिना कोई कपड़ा बिछाये बैठनेकी इच्छा न करेगा उसे उस साफ कीमती कपड़ेसे बड़ी प्रीति है ना, और यदि सीधे सादे कम कीमतके कपड़े कोई पहिने है तो वह जहां चाहे बैठ जाता है, उसे उन वस्त्रोंसे प्रीति नहीं है। तो ऐसे ही समझिये कि अगर बाह्यमें बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, बहुत व्यापार हो रहा है तो उसमें ममत्व अधिक होता है और यदि परिग्रह अल्प हो। रहा तो ममत्व भी अल्प हो रहा है। किसी-किसी पुरुषके परिग्रहके अल्प होते हुए भी अभिलाषा ज्यादा हो सकती है। कोई यह कहे कि परिग्रह तो थोड़ा है और इच्छा ज्यादा लग रही है तो वह इच्छा अगले परिग्रहकी कर रहा है। वर्तमानमें जो भी परिग्रह उसके पास है उसकी इच्छा वह नहीं कर रहा है। भविष्य में हमें अधिक परिग्रह मिले, इसकी इच्छा होती है। जिसके पास वर्तमानमें ज्यादा परिग्रह नहीं है मगर इच्छा है तो देख लो कितना परिग्रह लदा है ? जहां बहुत परिग्रह है, आरम्भ अधिक है, मूर्छा अधिक है। जो परिग्रह कम हो तो मूर्छा भी कम होती है। जिसके परिग्रहके प्रति मूर्छा है उसे उस परिग्रहका पाप लगता है। तो परिग्रहमें भी हिंसा होती है क्योंकि परिग्रहमें बेहोशी रहती है, बेसुधी रहती है। जो बेसुध पुरुष है उसे नियमसे हिंसा लगती है।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥१२४॥

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ परिग्रहकी सम्यक्त्वघातकता— अब देखिये धर्मपालनकी विधि यह है कि पहिले तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो, बाद में चारित्रपरिणाम होता है। पर ऐसा न सोचकर कोई कहे कि मुझे सम्यग्दर्शन तो तब होगा जब मैं चरित्र धारण करूंगा, क्योंकि प्रथम तो सम्यग्दर्शन होने न होनेका कोई यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर भी अपनी गल्तियां नजर आती हैं और किसीके सम्यक्त्व न भी हो, और बुद्धिमें आ रहा हो कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूं, मैंने तो शुद्ध बुद्ध निरंजन आत्माको जान लिया है। सम्यक्त्व नहीं भी हुआ और चरित्र पालन करे तो कुछ मन्द कषाय तो व तभी तो उसने चारित्र पालन किया है। जब कषाय मंद हैं तभी तो परिग्रह कम रखा है, अनशन व्रत आदिक करता है, खाने पीने की चीजोंकी भी बड़ी छोड़छाड़ करता है। तो सम्यक्त्व न भी हो और चारित्र कोई पालन करे तो बिल्कुल व्यर्थ तो जाता नहीं, मंद कषायका लाभ तो मिलता ही है और उसी सिलसिले में गुरुजनोंका उपदेश चित्तमें बैठ जाय तो सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हो सकती है। पहिले सम्यक्त्व धारण करना चाहिए, सम्यक्त्व होगा तो कषायें मंद होंगी, पुण्य समागम मिलेंगे, धर्मात्मावोंका समागम मिलेगा। अतः चरित्रसंयम धारण करना अच्छा ही है, किन्तु मोक्षमार्गकी जो विधि है वह इस प्रकार कि पहिले तो तत्वार्थका श्रद्धान हो, फिर चारित्रका ग्रहण हो। सम्यक्त्वके न होने में तत्त्वार्थका श्रद्धान न होनेमें मिथ्यात्व कारण है। इस कारण मिथ्यात्व सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें बाधक है। सम्यग्दर्शनको चुरानेमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषायें कारण हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायें सम्यग्दर्शनको चुराने वाली हैं। अर्थात ये ७ प्रकृतियां सम्यग्दर्शनका घात करने वाली हैं। तो कोशिश यह करें कि अपना परिणाम विशुद्ध करें, तत्त्वज्ञानकी बात करें, देह और आत्मामें भेद विज्ञान रखें, पर वस्तुओंका त्याग करें, आत्मस्वरूपका ग्रहण करें तो ये मिथ्यात्व और कषायें जहां दूर होती हैं वहां सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। साथ ही यह भी जानना कि इन ७ प्रकृतियों का क्षय हो इस पथमें आनेमें किसी प्रकारके विशुद्ध परिणाम भी निमित्त होते हैं सो किन्हीं विशुद्ध परिणामोंसे सप्त प्रकृतियों का क्षय होता व क्षयसे सम्यक्त्वरूप विशुद्ध परिणाम होता। दोनों तरफसे यही बात जानना चाहिए। अब भैया! कर्मोंका क्षय अक्षय हम तो कर नहीं सकते, उसे कोई देखते भी नहीं, वे पर पदार्थ हैं, सो करना चाहिए अपना परिणाम ही विशुद्ध। विशुद्ध परिणाम किये हुएमें जब जो बाह्य होता है हो जायेगा। मगर कोई यह सोचे कि मैं अष्टकर्मोंका नाश कर डालूं, मैं अमुक विधान करूंगा तो यों ८ कर्मोंको देखने निरखने, सोचनेसे कहीं उनका नाश नहीं होगा। अपने परिणाम विशुद्ध बनें, परवस्तुवों का परित्याग रखें अपने ज्ञानस्वरूपमें ही अपनी आत्मीयता जगे तो अष्टकर्म ध्वस्त हो सकते हैं। तो अपने आपकी संभाल करने की जरूरत है। अपने आपकी संभालमें लगें बाकी जो होना हो, हो। किसी साधुको नहीं भी पता है कि ८ वें तथा १० वें गुणस्थानमें कैसे क्षय होता है, तो नहीं पता है, न सही, लेकिन जो साधु अपना परिणाम निर्मल रखेगा उसका वह काम जरूर होगा। अपने परिणाम विशुद्ध रखें, अहिंसामयी परिणाम रखें तो कर्मप्रकृतियाँ नष्ट होंगी, सम्यक्त्वका लाभ होगा और मोक्षमार्ग मिलेगा।

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचारित्रस्य सम्मुखागातः।
नियतं ते हि कषायाः देशचारित्रं निरुन्धन्ति॥ १२५॥

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ परिग्रहकी देशचारित्रघातकता—मोक्षमार्गमें सबसे पहिले तो सम्यक्त्व चाहिये तो सम्यक्त्वके खातिर दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियां—मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और चारित्रमोहनीयकी चार प्रकृतियां—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन ७ प्रकृतियोंका क्षय हो तो सम्यग्दर्शन होता है। तो सम्यग्दर्शनके बाद फिर देशचारित्र होता है तो उस देश चारित्रका वर्णन करते हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके क्षयोपशमसे देशचारित्र होता है, क्योंकि ये चार कषायें अप्रत्याख्यानावरणकी, देशचारित्रको रोकती हैं। अप्रत्याख्यानावरण का अर्थ है थोड़ा भी त्यागको रोकने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

वाली। देशचरित्र अणुव्रतको कहते हैं। तो जब सम्यक्त्व हो चुके, देशचरित्र न हो तो उसे चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। और जब देशचारित्र हो तो उसे ५वां गुणस्थान कहते हैं। देशचारित्रके भी ११ भेद हैं। जिसे ११ प्रतिमा कहते हैं। सो जैसे जैसे प्रत्याख्यानावरणी कषायें जो कि मुनिके व्रतको रोकती हैं, उनका कम कम उदय चलता है वैसे ही वैसे देशचारित्र बढ़ता जाता है। देशचारित्रमें जो दूसरी तीसरी चौथी आदि प्रतिमायें हैं तो वे प्रतिमायें कैसे बढ़ती हैं ? अप्रत्याख्यानावरणका तो अनुदय सबमें है। अब जो प्रत्याख्यानावरण कषाय है, जो मुनिके व्रतको रोकती है। उस कषायका जैसे-जैसे मंद उदय होता जाता है वैसे ही वैसे प्रतिमा बढ़ती जाती है, क्योंकि ११वीं प्रतिमाके बाद साधुका पद आता है। वहां प्रत्याख्यानावरण कषाय बिल्कुल नहीं रहती। देश चारित्रमें ये ११भेद किये गये हैं। पहिली प्रतिमामें तो सप्त व्यसनोंका त्याग, अष्टमूलगुणोंका पालन ये सब निरतिचार बताया है। इन अष्ट मूल गुणोंके निरतिचार पालनेमें मर्यादा की बात आती है। कोई पूछे कि मर्यादाकी बात ग्रन्थोंमें कहां लिखी है तो पहिली प्रतिमामें जो बताया है, उसका ही अर्थ है कि मर्यादित भोजन हो। क्योंकि मर्यादासे बाहरके भोजनमें अनेक जीव आ जाने से मांस खाने जैसी बात हो जाती है। अमर्यादित चीजों के खाने में मांस का अतिचार है। तो पहिली प्रतिमामें मर्यादित भोजन हो जाता है।

देशचारित्रमें द्वितीय प्रतिमा दूसरी प्रतिमामें ५ अणुव्रतों का पालन है—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अहिंसा अणुव्रतमें त्रस हिंसाका सर्वथा त्याग है। सत्याणुव्रतोंमें असत्यका त्याग है, अचौर्याणुव्रतमें चोरीका सर्वथा त्याग है, ब्रह्मचर्याणुव्रतमें परिग्रह का परिमाण रखना बताया है। यों ५ अणुव्रत हो गए।

दिग्अणुव्रतमें दिशाका प्रमाण बताया है कि मैं अमुक दिशा में इतने मीलसे अधिक न जाऊंगा। इस दिग्अणुव्रत वालेको उतनी दूरीसे अधिककी चीज मंगाना अथवा उससे बाहर भेजना इसमें निषेध है। देशव्रतमें उसके भीतर ही मर्यादा करले कि इन १० दिनोंमें अथवा इतने दिनों में मैं इस नगरसे बाहर न जाऊंगा। प्रयोजन यह है कि बहुत दिनोंका संकल्प विकल्प न करना पड़े, समुचित दायरे में आरम्भ रहे। अनर्थ दण्डविरतिव्रतमें बिना प्रयोजनके काम न करना बताया है। जैसे पाप भरें उपदेश देना, हिंसक वस्तुओंका उपयोग करना, या बिना प्रयोजन पानी बहाना, आग जलाना, कुत्ता बिल्ली आदि हिंसक जीव बिना प्रयोजन पालना ये सब अनर्थदण्ड हैं। इन सबका त्याग देशव्रतमें बताया है। चार शिक्षाव्रतोंमें पहिला है सामायिक शिक्षाव्रत। समय पर सामायिक करना और दूसरा है—अष्टमी, चौदस वगैरहका उपवास करना। उपवास तीन तरहके हैं— उत्तम उपवास, मध्यमउपवास और जघन्य उपवास। जो सप्तमी नवमीको तो एकाशन करे, दुबारा जल भी न ले और अष्टमी को उपवास करे। पूर्ण व्रत रखें वह उत्तम उपवास है और सप्तमी नवमीको तो उत्तमवत एकाशन करे, दूसरी बार कुछ न ले किन्तु अष्टमीको सिर्फ एक बार जल ग्रहण करले वह मध्यम उपवास है और जो सप्तमी नवमीको उत्तमवत् एकाशन ही करे, इन तीन दिनोंमें किसी एक दिन किन्तु अष्टमीके दिन नीरस या एक दो रसमात्रमें एक बार आहार ग्रहण करे वह जघन्य उपवास है। तीसरा शिक्षाव्रत है भोगोपभोग परिमाण। भोगोपभोगकी चीज का परिमाण कर लेना। जैसे कोई लोग हरीका नियम ले लेते कि हमने ३० हरी सिर्फ जिन्दगी भर के लिये रखी है तो यह भोगोपभोग-परिमाणमें आता। तो भोगकी चीज तो हरी भी है और जो सचित नहीं है ऐसा भी है, पर हरी पर इस लिये बल दिया कि उसमें एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा बचे। उपभोग का परिमाण करना। जैसे इतने पलंग रखना, इतने बिस्तर रखना, इतने वस्त्र रखना, यह सब भोगोपभोग प्रमाणमें है। चौथा शिक्षा व्रत है अतिथिसम्विभाग व्रत। इसमें किसी त्यागी मुनिको पहिले आहार दे बादमें खुद आहार करना बताया है। यदि कोई त्यागी मुनि न मिले तो द्वारसे पड़गाह कर या किसी त्यागी मुनिका पता लगाकर बादमें आहार करना बताया है।

देशचारित्रमें तृतीयादिक प्रतिमायें—तीसरी प्रतिमामें तीन बार सामायिकका नियम है। चौथी प्रतिमामें अष्टमी चतुर्दशी वगैरहके निरतिचार उपवास निरतिचार का नियम है। ५ वीं प्रतिमामें बताया है कि

सचित्त अचित्त चीजोंको मुंहसे नहीं खा सकता। उसका कारण है कि उसके करुणाका भाव जगा है। छठी प्रतिमामें, रात्रिभोजनका त्याग बताया है। रात्रिभोजनका त्याग तो पहिली प्रतिमामें भी है मगर छठी प्रतिमावाला रात्रिको न खुद खायेगा, न दूसरोंको खानेकी अनुमति देगा और न रात्रिके खाने को अच्छा कहेगा। सब तरहसे उसके रात्रि भोजनका त्याग हो जाता है। ७वीं प्रतिमामें ब्रह्मचर्यकी प्रतिमा आ जाती है। घरमें रहते हुए भी पूर्णब्रह्मचर्यसे रहता है, अपनी स्त्री तकसे भी सहवास नहीं कर सकता। आठवीं प्रतिमामें आरम्भका त्याग हो जाता है याने खेती, व्यापार, रोजगार इन सबका त्याग कर देता है। ८वीं प्रतिमा वाला पेन्शन तो ले सकता है, पर और व्यापार नहीं कर सकता क्योंकि पेन्शन तो पहिलेकी कमाई है और वह माहवार सरकारसे ले रहा है, पर वह ब्याज वगैरह पर रुपया उठानेका काम नहीं कर सकता, नई चीज नहीं कमा सकता है। ८वीं प्रतिमा वाला खुद बनाकर खा सकता है। पैसा रखे हो पर पैसे से नई कमाई नहीं कर सकता। ९वीं प्रतिमामें पैसोंका त्याग है। रह रहा है घर में पर धन धान्यादिक किसी भी चीजमें हुकुम नहीं चला सकता कि यह मेरा है। वह तो अब जो कपड़े पहिने है उतना ही परिग्रह है। लड़के लोग लिवा ले गये तो भोजन कर आये, पर किसी पर हुकुम नहीं चला सकते कि हम भूखे रह गए। १०वीं प्रतिमामें घरके कामोंमें अनुमोदना भी नहीं कर सकते। ९वीं प्रतिमामें तो सलाह दे सकते थे। ११वीं प्रतिमामें क्षुल्लक व्रत है, बादमें ऐलक व्रत है। तो जैसे-जैसे प्रत्याख्यानावरण कषायें मंद होती जाती हैं वैसे ही वैसे प्रतिमारूप व्रत बढ़ता जाता है। तो इसे कहते हैं देशचारित्र।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम्।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया॥१२६॥

मार्दव शौच आदि भावनाके द्वारा अन्तरङ्गपरिग्रहोंका परिहार करने का कर्तव्य—अपनी शक्ति के अनुसार मार्दव, शौच, संयम आदिक जो दशलक्षण धर्म हैं उनकी भावनासे समस्त अन्तरङ्ग परिग्रहोंका त्याग करना चाहिए। अब यहाँ बात कही जा रही है मुनिव्रतकी। जब प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ भी दूर हो जाते हैं तो मुनिपद प्राप्त होता है। तो अब मुनियोंके अनन्तानुबंधी नहीं, अप्रत्याख्यानावरण नहीं, प्रत्याख्यानावरण नहीं है। संज्वलन कषाय रहीं। जब संज्वलन कषायका मंद उदय रहता है तब होता है ७वां गुणस्थान और जब संज्वलन कषायका उदय विशेष रहता है तब कहलाता है छठा गुणस्थान। तो जो श्रावक है, देशचारित्र पालन करता है तो वह सकल चारित्र कैसे पालन करेगा? उसके लिए दशलक्षण धर्मकी भावना भाता है। जैसे अपने परिणामोंमें शान्ति आये, क्रोध न रहे, क्षमा प्रकट हो, ऐसी भावना करना कि संसारके सभी जीव जुदे-जुदे हैं. कोई किसीका सुधार बिगाड़ करने वाला नहीं है, मैं भी किसीका कुछ करने वाला नहीं हूं। सभी जीव अपने-अपने भावोंके अनुसार अपनी अपनी चेष्टायें करते हैं। यहां किस पर क्रोध करना, किस पर मान करना, किस पर मायाचार करना, किस चीज का लोभ करना, इन कषायोंसे तो अपना अहित ही है। इन दश लक्षण धर्मोंकी भावना भाना, अपना सत्य जीवन रखना, संयमसे रहना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, ये सब बातें हों तो उसके कारण अपनेमें एक ऐसा बल प्रकट होता है कि वह सकल चारित्रका पात्र बन जाता है। दशलक्षण भावनाके परिणामसे प्रत्याख्यानावरण कषायें भी दूर हो जाती हैं। गुणोंका विकास होता है। श्रावकों को बतला रहे हैं कि देशचारित्र पालते हुए दशलक्षण धर्मकी भावना बनायें तो उसके मुनि धर्मकी प्रकटता सम्भव है।

बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा॥१२७॥

अनुचित असंयमका कारण होनेसे बहिरङ्ग परिग्रहके त्यागका कर्तव्य—बाह्य परिग्रह चाहे वह चेतन परिग्रह हो या अचेतन परिग्रह हो, सर्वप्रकारसे आत्कहितार्थी व्यक्ति को छोड देना चाहिए। कारण यह है कि बाह्य परिग्रहसे भी असंयम प्रकट होता है। अब देख लो—गृहस्थीमें थोड़ा मानने भरका सुख है। अच्छा घर है, लोग

http://www.jainkosh.org

हैं, परिवार है तो एककल्पना भरकी मौज है, मगर देखो तो हृदयमें अशान्ति बराबर चलती रहती है। चिंता हो, शोक हो, जरा सा तो सुख है और दुःख कितना भरा हुआ है, इसका अंदाज लगायें तो जैसे शास्त्रमें कहा है कि सुख तो तिल भर है और दुःख पहाड़ बराबर है। बतलावो संसारमें अनन्त जीव हैं, उनमें से कोई जीव अपने घर उत्पन्न हो गए तो क्या है ? अरे वे न आते, और कोई आते तो क्या यह न हो सकता था ? किसीका कोई जीव कुछ लगता है क्या ? किसीका किसी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो संसारका समागम है, आना जाना यहां बना ही रहता है, इनमें जो रुचि करता है वह अपने आत्मस्वरूपको बिल्कुल खो बैठता है। अपने आपकी संभाल उसके रंच नहीं रहती। तो यह चेतन अथवा अचेतन परिग्रहोंका जो समागम है यह दुःखका ही कारण है। ये समागम भी दुःखके कारण नहीं हैं, बल्कि इन समागमोंके प्रति जो हम आपके अन्दर एक मोह भाव पड़ा हुआ है वह दुःखका कारण है। उस मोह भावका ही परिणाम है कि हम आप इस संसारमें जन्म मरण करते चले आ रहे हैं। यहीं पर आप लोगोंने अजायब घरमें देखा होगा किस किस प्रकारके विचित्र शरीर वाले जीव पाये जाते हैं। इस मोहका ही यह परिणाम है कि यह जीव नानाप्रकारके शरीरोंमें बंधा फिर रहा है। यह जीव धन धान्य, स्त्री पुत्रादिकमे मोह करता है, जिसका फल यह है कि इस संसारमें अनेक जन्म मरण धारण करने पड़ते हैं। मोहमें तत्व कुछ नहीं रखा है। जिनसे मोह करते वे स्वार्थ भरे हैं, वे हित न कर सकेंगे। कोई निमित्त दृष्टिसे हमारा हित भी करेंगे तो वे स्वयं दुखी हैं, वे इस मुझ आत्माका हित कर सकनेमें समर्थ नहीं हो सकते। जिन परिजनों के बीच रहकर हम आप अपना हित समझते हैं वे हमारा हित क्या करेंगे ? वे स्वयं विषयकषायोंसे प्रेरे हुए हैं, इस संसारमें वे स्वयं जन्म मरणका चक्कर लगा रहे हैं, उनसे हमारे आत्माका कुछ भी हित नहीं हैं। अपना हित अहित करने वाले तो खुद हैं। यह बहिरङ्ग परिग्रह हम आप सबके असंयम का कारण है और असंयम इस संसारमें दुःख बढ़ाने वाली बात है। इस कारण बहिरङ्ग परिग्रहको अपने से दूर करना चाहिये। तो यह बात तो साधुजन ही कर सकते हैं कि चेतन अचेतन परिग्रह इन दोनोंका सर्वथा त्याग कर दें, पर श्रावक जनोंसे तो यह बात बन नहीं सकती तो श्रावक क्या करें ? उसके उत्तरमें कहते हैं—

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥१२८॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रतका निर्देश—यदि धन धान्य घर सम्पदा आदिक परिग्रह बिल्कुल छोड़े जाने में शक्य नहीं है तो ये कम तो किये ही जाने चाहियें। जितना परिग्रह सुगमतासे त्याग देनेमें कोई कठिनाई नहीं हो उसे कम अवश्य करना चाहिये। इस परिग्रह परिमाणके प्रकरणमें श्रावकोंकी ओर संकेत किया है। श्रावकजन घरमें रहते हुए परिग्रहके सब प्रकारके त्यागी नहीं हो सकते तो सब चीजोंमें कमी कर लें। उन्हें जितनेमें संतोष हो, जितनेसे विकल्प न बढ़े उसे निकालकर परिग्रहमें कुछ कमी अवश्य करें। किसी जमानेमें ऐसे लोग होते थे कि उनका नियम रहता था कि इतने का माल बिक चुकने पर हम दुकान बंद कर देंगे। सो ग्राहक यह समझ कर रोज जल्दी ही इकट्ठा हो जाते थे कि कहीं ऐसा न हो कि देरमें पहुंचने से सामान न मिले। यों घंटा दो घंटामें ही उतनेका माल बिक जाता था। बाकी समय दुकान बंद करके वे पूजन मंदिर दर्शन, स्वाध्याय तत्त्वचिंतन आदिमें अपना समय लगाते थे। तो जिन्हें भी अपना कल्याण करना हो उन्हें चाहिए कि वे अपने कल्याणका लक्ष्य बनायें, परिग्रहों में अपनी सामर्थ्य के अनुसार कमी करें। जो यह चाह करता है कि मेरा नाम अधिक बढ़े, मेरे वैभव अधिक हों, यों बाह्य पदार्थोंकी जिनके आकांक्षा लगी है वे पुरुष धर्मपालन नहीं कर सकते। बाह्य पदार्थों की इच्छा करना यह सब अनर्थोंका मूल है। प्रथम तो इस जीवको सम्यक्त्व पालन करना चाहिए जिससे कि उसका चित्त स्वच्छ हो जाये। याने व्यर्थकी इच्छायें न बढ़ें और अपने आपको महागर्त में न डुबायें, यह सम्यक्त्वका प्रताप है, क्योंकि सम्यक्त्वमें उसे स्पष्ट भान है कि मेरा आत्मा ज्ञानमात्र है, मैं मात्र ज्ञानको ही कर सकता हूं और ज्ञानको ही भोग सकता हूं, ज्ञानको छोड़कर मुझमें कुछ भी करने और भोगनेकी सामर्थ्य नहीं है। सम्यक्त्वके ही कारण उसमें क्रोध, मान, माया, लोभादिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कषायें भी नहीं ठहर पाती हैं। वह परिग्रहमें भी कमी रखता है। जो कुछ थोड़ी सी पूंजी है उसीमें वह गुजारा कर रहा है, बाकी समय धर्मपालनमें लगाता है। उसके उस छोटे व्यापारको देखकर कहीं यह शंका न करें कि वह लोभी पुरुष है और कोई पुरुष धनी है, खूब खर्च करता है अपने आरामके लिए, बढ़िया भोजन करता है तो यह न समझिये कि वह लोभी नहीं है। जो अपने विषय साधनोंके लिए बहुत खर्च भी करता है तो भी लोभी है और कोई पुरुष परिग्रह कम रखकर थोड़ेमें ही गुजारा करता है, अपना अधिक समय धर्मपालनमें लगाता है तो वह पुरुष लोभी नहीं है। उद्देश्य देखना चाहिए। लोभी पुरुष बाह्य पदार्थोंका संचय करनेका लक्ष्य रखता है और जो लोभी नहीं है, वह बाह्य पदार्थोंके संचयसे अति दूर रहता है। यदि श्रावक अवस्थामें परिग्रहका त्याग नहीं कर सकते तो उन्हें चाहिए कि अपनी शक्तिके अनुसार बहुत कम कर लें क्योंकि तत्त्व निवृत्तिरूप है। जो बाह्यपरिग्रहोंको हटाता रहेगा उतनी ही उसके लिए सारभूत बात है। जो सर्वथा निवृत्ति रखते हैं वे मुनिजन हैं और जो प्रवृत्ति रखते हैं वे श्रावकजन हैं। तो अपना भाव यह रखना चाहिए कि प्रवृत्तिसे तो हटें और निवृत्तिमें लगें और अपने आत्माके निकट रहकर प्रसन्न रहा करें और शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकें।

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

रात्रिभोजनमें अनिवारित हिंसा होनेसे रात्रिभोजनके त्यागका कर्तव्य—शान्ति अहिंसामें है और क्लेश हिंसामें है, इस आधार पर श्रावकाचारका वर्णन चल रहा है। वास्तविक अहिंसा उसे कहते हैं कि जब आत्मामें सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो, अपने आत्माके सहज निजी स्वरूपका विश्वास हो और रागादिक क्रोध, मान, माया, लोभ, विशेष, कषाय, शल्य, माया, मिथ्या, निदान—इन सब विकारोंसे रहित हुआ किसी जीवके प्रति, किसी परके प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि न हो, ऐसा शान्त परिणाम हो उसे अहिंसा कहते हैं। लोकमें जो दूसरे जीवोंकी हिंसाका नाम हिंसा कहा जाता है। वह हिंसा इसलिए कही जाती है कि चूंकि सताने वाले ने खुद अपना परिणाम बिगाड़ा तो खुदके परिणाम बिगड़नेका नाम हिंसा है और खुदके परिणाम न बिगड़ें, विशुद्ध रहें उसका नाम अहिंसा है। बाहरकी बातोंसे हिंसा और अहिंसाका निर्णय नहीं है, यह जैन शासनका एक मूल आदेश है, इसमें कोई व्यवस्था भंग नहीं होती, क्योंकि जो लोग दूसरेको सताते हैं वे अपना परिणाम बिगाड़ लेते हैं तब सताते हैं। पर दूसरेका दिल दुःख गया इसलिए हिंसा लगी हो यह बात जैन शासनमें नहीं है। किन्तु खुदका परिणाम उसने बिगाड़ा इसलिए हिंसा लगी। तभी तो किसीको सतानेका कोई परिणाम करे और सता न सके तो भी हिंसा है और किसीको सतानेका परिणाम न करे, दूसरा खुद भूलसे भ्रमसे अपनी कल्पनासे दुःखी हो जाय तो भी अहिंसा है। जैसे साधुजनोंको देखकर बहुतसे दुष्ट लोग दुःखी होते हैं तो इससे साधुको हिंसा नहीं है। इस सम्बन्धमें बहुत-बहुत कुछ वर्णन करनेके बाद इस गाथा में यह वर्णन कर रहे हैं कि जो रात्रिको खाते हैं उनको नियमसे हिंसा होती है। इसलिए जो हिंसाके त्यागी हैं उन्हें चाहिए कि रात्रि भोजनका वे पूरा त्याग करें। अब किस तरह रात्रि भोजनमें हिंसा लगती है उसका वर्णन आगे बहुत विस्तारसे किया जायेगा। रात्रिमें भोजन करने वालेका परिणाम वैसा रहता है और उस रात्रि भोजन की क्रियामें बाहर में जीवोंकी कितनी हिंसा होती है? इन दोनों बातों पर दृष्टि दी जाय तब यह बात सही आयेगी कि रात्रि भोजन करनेमें नियमसे हिंसा है। हिंसाकी दृष्टिसे जो रात्रिमें भोजन करनेमें हिंसा है तो वैसी हिंसा रात्रिको भोजन बनानेमें है। अब किस प्रकार भाव हिंसा होती है रात्रि भोजनमें उसके सम्बन्धमें कहते हैं।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥१३०॥

अहर्निश भोजन करने वालोंके तीव्रराग होनेसे हिंसाका दोष—रात्रि भोजनका त्याग न कर सकना अर्थात् अत्याग भाव, असंयम भाव यह रागादिकका उदय विशेष हो तब हुआ करता है। चीजोंको न छोड़ना,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

असंयमसे रहना, रागादिककी तीव्रता रहना इन सबका नाम हिंसा है। अभी जो हिंसाका लक्षण कहा था वह यही तो बताया गया कि रागादिक भाव उत्पन्न हों उसका नाम हिंसा है। रागादिक न रहें उसका नाम अहिंसा है। रात्रि भोजनका त्याग नहीं कर सकता है कोई तो क्यों नहीं कर सकता कि राग विशेष है। रागादिक भावोंकी विशेषता होनेसे जो रात दिन खाता रहता है उसके हिंसा होती है। इस कथनमें अभी बाहरी हिंसाकी बात पर दृष्टि नहीं दी गयी, किन्तु अपने परिणामोंमें रागादिक भाव विशेष रहते हैं तो उसे हिंसा है और रात दिन अनेक बार खाता ही रहता है उसके रागादिक विशेष हैं ही, इस कारण उसमें हिंसा है ऐसा एक प्रारम्भमें सामान्य कथन किया है। जिस जीवके तीव्र रागभाव होता है वह त्याग नहीं कर सकता। तो जिसको भोजनमें अधिक राग होगा वही तो रात दिन खायेगा, दिनमें भी खायेगा, रातमें भी चैन नहीं। तो रागकी विशेषता है तब ऐसा किया जाता है। जहां राग है वहां हिंसा अवश्य होती है। तो रात्रि भोजन त्याग न करनेमें हिंसा है। उसका कारण यह बताया इस गाथामें कि चूंकि उसके रागादिक भाव विशेष हैं तभी तो वह रात दिन खा रहा है, इस कारण भावहिंसा है। ऐसा कथन होने पर शंका उपस्थित होती है, वह शंका क्या है उसे स्वयं आचार्य महाराज इस गाथा में लिख रहे हैं।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥
नैवं वासरभुक्तेः भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

हिंसा कम करनेके लिये दिनभोजन त्यागकर रात्रिभोजन करनेकी शंका व उसका समाधान— जब रात दिन खाते रहनेमें रागादिक की विशेषता है और उस कारण हिंसा लग रही है तब तो यह काम करना चाहिए कि दिनके भोजनका त्याग करलें और रात्रिमें भोजन कर लिया करें। इससे दिनकी हिंसा तो बच जायेगी। शंकाकारका कहनेका मतलब यह है कि दिनके भोजनको त्यागकर रात्रिमें भोजन ग्रहण किया करें तो उसमें सदाकाल हिंसा तो न होगी, दिनकी हिंसा तो बच जायेगी, केवल रात्रिकी हिंसा रह जायेगी। तो शंकाकारकी इस शंकाके उत्तरमें आचार्य देव कहते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि दिनके भोजनकी अपेक्षा रात्रिके भोजनमें निश्चयसे रागभाव अधिक रहता है। और कुछ अनुभव करके, कुछ चिंतन करके भी आप सब समझ सकते हैं कि रात्रिके भोजन करनेमें मनुष्य कितना राग करता है, कितनी आसक्ति करता है? दिनके भोजन की अपेक्षा इसमें अधिक राग है। यहां अंतरङ्गसे जवाब दिया जा रहा है। जैसे कोई यह शंका करने लगे कि पेट ही तो भरना है। अन्न खाकर पेट भरे अथवा मांस खाकर पेट भरे, इन दोनोंमें कुछ भी तो अन्तर नहीं है, बात एक है। तो देख लो ना, अन्न खानेमें जीवको रागभाव कैसा रहता है और मांस खानेमें जीवके कैसा तीव्र राग रहता है? उदर भरने की अपेक्षासे सब प्रकारके भोजन समान हैं। पर मांस खानेमें रागभाव विशेष होता है क्योंकि अन्न तो सभी मनुष्यों को सहज मिल जाता है और मांसकी जब बहुत अधिक इच्छा हो अथवा शरीर आदिकका बड़ा स्नेह हो तो बड़ा प्रयत्न किया जाता है तब थोड़ा मांसका भोजन प्राप्त होता है। अतएव मांस खानेमें रागभाव अधिक है। तो यह रात्रिभोजन त्यागने योग्य है। इसके समाधानमें दो तीन बातों पर प्रकाश डाला है। प्रथम बात तो यह है कि दिनमें भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिमें भोजन करनेमें रागभाव विशेष होता है। दूसरी बात यह आती है कि दिनमें भोजन की सुलभता रहती है। रात्रि में भोजन बनानेमें और प्राप्त करनेमें उसकी अपेक्षा कुछ कठिनाई रहती है, अतः रात्रि भोजनमें रागभाव की तीव्रता रहती है, उसे त्याग देना चाहिए। तीसरी बात यह बतायी है कि रात्रिमें भोजनकरने में काम-वासना आदिककी विशेषता अधिक रहती है। रात्रिभोजन करनेमें शरीर पर और रागादिक वासना पर विशेष स्नेह है, इस कारण दिनमें भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिभोजन में हिंसा विशेष है। यह तो एक भीतरी भावका समाधान है। इसमें द्रव्यहिंसाकी बात अभी तक नहीं कही है। अब द्रव्य हिंसाकी ओर से समाधान दे रहे हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अर्कालोकेन बिना भुञ्जानः परिहरेत्कथं हिंसां ।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनाम् ॥१३३॥

रात्रिभोजनमें विशेषहिंसा होनेका प्रतिपादन—रात्रिमें दीपकके प्रकाशमें बहुतसे छोटे-छोटे जन्तु आ जाते हैं। दिनमें रात्रिकी अपेक्षा स्वभावतः जंतुवोंका आवागमन कम रहता है। रात्रिमें भुनगा भुनगी कीड़ा मकौड़ोंकी भरमार विशेष रहती है। अतः रात्रिभोजन करनेमें प्रत्यक्ष हिंसा है। जो रात्रिभोजन करेगा वह प्रत्यक्ष हिंसासे कभी बच नहीं सकता। यह द्रव्यहिंसाकी ओरसे उत्तर है। आजकल बाबू लोग क्या कहने लगते हैं कि हमारे पास तो दिनमें इतना काम रहता है कि दिन में खाने को टाइम नहीं मिलता। जब कामसे फुरसत मिलती है तो रात्रिको विवश होकर खाना पड़ता है। इस समस्याका समाधान यह है कि यदि किसीके चित्तमें यह बात अच्छी तरह समा गई है कि रात्रि भोजन करना पाप है तो उसमें हिंसा विशेष है और रात्रिभोजन त्यागनेके योग्य है। यदि ऐसा भाव मनमें आ जाय तो अपनी समस्याका हल ढूंढ़ लेगा। दूसरे, दिनमें एक बार भोजन करनेको तो सभी को मिलता ही है। अगर कदाचित समय पर दिनमें ही भोजन न मिल सके, रात्रिको न खायेंगे उससे हमें कोई बाधा नहीं है। ऐसा विचार बन जाय तो उसकी चर्या भी ऐसी हो जायेगी कि बाधा न होगी। तीसरी बात यह है कि कोई नियम तो ले। किसी भी जगह जायें, दिनमें भोजन करनेका समय सभी लोग दे देंगे, पर चूंकि रात्रि भोजन त्यागके प्रति विशेष प्रेम नहीं है और सामूहिक रूपसे रात्रिभुक्तित्यागमें प्रेम नहीं है, इस कारण लोग भी जानते हैं कि कितना ढोंग धतूरा है। कभी रात्रिको खाते हैं कभी नहीं, मनमें आया खा लिया न मनमें आया न खाया, कोई नियम नहीं है। कोई रात्रिभोजन के त्याग पर अडिग रहे तो उसे ऐसे मौके न आयेंगे कि जिससे उसे कष्ट हो। इस गाथामें द्रव्यहिंसाकी ओरसे उसे समाधान देते हैं कि जो व्यक्ति रात्रिभोजनका त्यागी नहीं है वह हिंसासे कभी बच नहीं सकता। इस कारण रात्रिमें न भोजन बनाना चाहिये और न खाना चाहिये। एक विशेष आश्चर्यकी बात और भी है कि कोई पुरुष धर्म तो खूब करे—एक बार खाना, मंदिर दर्शन नियमसे करना, बहुत-बहुत यात्राएं करना आदिक, पर उसे यह पता नहीं है कि ये सब क्रियायें कषायरहित बननेके लिये की जा रहीं हैं, तो वह ये सब क्रियायें करने पर भी कषायें खूब करता है तो वह लोगोंकी दृष्टिमें हंसीका पात्र बनता है। वह व्यक्ति ही हंसीका पात्र नहीं बनता बल्कि लोग तो यों कहने लगते हैं इस धर्मके लोग बड़ा क्रोध करते हैं, बड़ा घमण्ड रखते हैं, बड़ा मायाचार करते हैं और बड़े लोभी होते हैं। तो अपने मनमें यह बात जरूर रखनी चाहिए कि हम जो बाह्यमें धर्मका पालन करते हैं, व्रत नियम संयम आदिक करते हैं वे सब इसलिये किये जा रहे हैं कि हमारी कषाये मंद हों, हमारी आत्मापर दृष्टि जाय। मैं अपने आपके स्वरूपमें रमण करूं इसलिये ये बाह्य नियम हैं। यह लक्ष्य यदि नहीं है तो बड़ी विडम्बनाकी बात है कि परिश्रम भी खूब करते हैं, भूखे भी रहते हैं और और भी कष्ट उठाते हैं और फिर भी सही विधिसे धर्मपालन नहीं हो पाता। इससे अंतरङ्गमें कषाये मंद रखें और आगे बढ़नेके लिये इन विशेष नियमोंका पालन करें।

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥१३४॥

रात्रिभोजनके त्याग बिना अहिंसाव्रतकी सिद्धिका अभाव—आचार्यदेव रात्रिभोजनके त्यागके प्रकरण में अन्तिम रूपसे यह कह रहे हैं कि बहुत प्रलाप करनेसे क्या ? जो पुरुष मन वचन कायसे रात्रिभोजन का त्याग कर देता है वह निरन्तर अहिंसाका पालन करता है। याने रात्रिभोजनके त्यागके बिना अहिंसा व्रतकी सिद्धि नहीं है। जैसे बहुतसे संन्यासी लोग घर भी छोड़ देते, पैसा भी मानो पास में नहीं रखते, जंगलोंमें भी आश्रमोंमें भी रहते और मंतव्यके माफिक धर्मपालन भी करते, मगर एक चीज देखी होगी कि काठकी खड़ाऊ पहिने रहते हैं। चमड़ेके जूते तक भी पहिन कर चलते हैं। अब अहिंसाके नाम पर सब कुछ करके भी उन संन्यासी जनोंमें अहिंसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

नहीं है अहिंसा व्रतका पालन नहीं होता। साधु की सबसे पहिली पहिचान तो यह है कि वे नंगे पैर चलते हैं। यह सभी साधारण साधुवों के लिये कह रहा हूँ, जो नामके भी साधु हैं, किसी भी मजहबके साधु हैं वे पैरमें जूता या खड़ाऊ पहिनकर चलते हैं समझो कि अभी उनके अन्तरङ्गमें दयामयी दृष्टि नहीं बन पायी, उनमें अभी साधुता नहीं आ पायी। तो उनका जीवन कैसा है ? लोगोंको बहकाने के लिये अथवा अपनी मान मर्यादा रखनेके लिये। यहां वहां की बातें बहुत अच्छी कहेंगे मगर चित्तमें धर्मके प्रति रुचि नहीं है। ऐसे ही यहां समझिये कि धर्मके नाम पर और और भी बहुत सी बातें कर डालते हैं—पूजन करना, विधान करना, अष्टमी चतुर्दशीका उपवास करना, बहुत-बहुत यात्रायें करना, परोपकार करना आदिक, पर सब कुछ करने पर भी यदि रात्रिभोजनका त्याग नहीं है, रात्रिभोजनकी प्रवृत्ति चल रही है तो आचार्यदेव कहते हैं कि रात्रिभोजन के त्यागके बिना अहिंसा व्रतकी सिद्धि नहीं है।

दुर्लभ मनुष्यजीवनको असंयममें बितानेकी मूढता—भैया ! कुछ अपनी ओर से यह भी विचारें कि यह मनुष्य शरीर मिला है, यह सदा नहीं रहेगा, किसी दिन नष्ट अवश्य हो जायेगा और मिला भी यह मनुष्य जीवन तो अन्य जीवोंकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठता है इस जीवनकी। यदि केवल खाने पीने की धुनमें ही इस जीवनको लगा दिया—दिनमें खाना, रात्रिमें खाना, विषय कषायोंमें ही बसकर अपना जीवन बिताना, अरे इनसे क्या लाभ मिलेगा ? जो महाभाग रात्रिभोजन का त्याग कर देता है वह सच्चा अहिंसक है। अहिंसा अणुव्रत में रात्रिभोजन त्यागकी मुख्यता का वर्णन है और मुनिव्रतमें जहां पंचमहाव्रतोंका वर्णन है वहां रात्रिभोजन त्यागका वर्णन जगह-जगह आया है। तो अहिंसा व्रतकी सिद्धिके लिये रात्रिभोजनका त्याग आवश्यक है। जहाँ मुनियोंके महाव्रतका वर्णन किया है वहां रात्रिभोजन त्यागका उपदेश क्यों दिया गया है ? उसके कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह जरूरी नहीं है कि कोई मनुष्य पहिले प्रतिमा ले और बादमें मुनि बने। कोई बिना प्रतिमा लिए सीधा मुनिव्रत धारण करले, यह भी एक विधि है। तीर्थंकर तो प्रतिमायें धारण ही नहीं करते। उनके जब वैराग्य जगता है तो सीधे मुनि बन जाते हैं। तीर्थंकर ५वें गुणस्थानमें नहीं आते, चौथेमें ही रहे फिर एकदम साधु हो गए। बड़े पुरुषोंकी कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति रहती है। तीर्थंकर देव अपने जीवनमें जब वे घरमें चौथे गुणस्थानमें हैं, कोई व्रत नहीं है, सम्यग्दर्शन जरूर है, जब उनके वैराग्य जगा तो एकदम मुनि दीक्षा ले लिया। पहिली, दूसरी, तीसरी प्रतिमा आदि धारण नहीं करते, इसका कारण है कि वे ऐसी महान् आत्मा हैं कि उनमें वैराग्य जगा तो पूरा जगा। अधूरा धर्म पालनेकी उनकी नीति नहीं है, या तो अव्रत अवस्थामें रह रहे या वैराग्य हुआ तो एकदम साधु अवस्था में रह रहे। इसके मायने यह नहीं है कि उन तीर्थंकरोंके प्रतिमाधारियोंके प्रति तुच्छताका भाव है। पर बड़े पुरुषोंकी ऐसी प्रकृति होती है तीर्थंकर भगवानकी दृष्टि एकदम नमस्कारके लिए जायेगी तो सिद्ध प्रभु पर जायेगी, उससे भी यह मतलब न निकालना कि उनकी अरहंत भगवानके प्रति उपेक्षा है। अरहंत भगवानके प्रति उनके आदरभाव हैं, अरहंत ही नहीं बल्कि साधुवों और मुनियोंके प्रति भी उनके आदरभाव हैं। तो कोई लोग बिना प्रतिमा धारण किए सीधे मुनि भी हो जाते हैं, इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है। ऐसे मुनिजनोंको लक्ष्यमें लेकर भी रात्रिभोजन त्यागका उपदेश है। रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग रहे, संकल्प भी न आये, दूसरोंके लिये इशारा भी न करे, ऐसे सर्वथा रात्रिभोजनके त्यागमें उनके दृढ़ता आये, इसलिये रात्रिभोजन त्यागकी बात मुनियों के महाव्रतके बाद कही गई है।

अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये रात्रिभोजनत्यागकी अनिवार्यता—प्रकरणमें यह बात बतायी जा रही है कि रात्रिभोजन करने वाले पुरुषके अहिंसा व्रतकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिये रात्रिभोजनका त्याग अवश्य ही करना चाहिये। कोई घटना ऐसी नहीं है कि रात्रिभोजनका त्याग कर दे तो उसे कोई कष्ट हो। कोई कष्ट की बात नहीं है। रात्रिभोजनका त्याग न कर सकनेसे कुछ आदत ऐसी बन गयी है कि जिससे उसे ऐसा लगने लगा कि

http://sahjanandvarnishastra.org/

रात्रिको खाये बिना गुजारा ही नहीं चलता, दिनमें खा लेनेका हमें टाइम ही नहीं मिलता, पर चूंकि रात्रिभोजनके त्यागका नियम नहीं है, सो मनमें यही बात बनी रहती कि ८ बजे खा लेंगे, ९ बजे अथवा १० बजे खा लेंगे। तो नियम न होनेसे ऐसा महसूस होता है कि रात्रिभोजनका त्याग निभ नहीं सकता, लेकिन अहिंसा व्रतके पालनमें अपने आपकी भावहिंसा बचानेके लिये और द्रव्यहिंसा बचानेके लिये रात्रिभोजनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। रात्रि-भोजन त्यागमें एक गुण और विशेष है जिसे अजैन लोग भी महसूस करते हैं। दिनमें भोजनसे निपट जाने पर रात्रि में समय खूब मिलता है। इससे उलझन आरम्भ और भोजन आदिकी चिन्ता नहीं रहती। उस समयमें शामसे लेकर जब चाहे तक भजन, सामायिक जाप, शास्त्रसभा आदि करें। इन सभी धार्मिक कार्योंके करनेके लिए खूब समय मिलता है। कुछ अजैन लोग भी कभी कभी इस बातपर मनमें मात्सर्य करने लगते कि मैं क्यों न हुआ ऐसा, जैन जो दिन दिनमें ही खाने से निपट लेते हैं। तो इस दृष्टिसे भी रात्रिभोजन का त्याग आवश्यक है। इस प्रकार इस प्रकरणमें रात्रिभोजन त्याग पर उपदेश दिया गया है। श्रावकोंको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य करना चाहिए ताकि उनकी भावहिंसा भी टल जाय और द्रव्यहिंसा भी टल जाय।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

मोक्षमें ही आत्माकी भलाई— इस जीवनका हित मोक्ष है, अर्थात् कर्मोंसे, शरीरसे, रागादिक परिणामोंसे छुटकारा मिलनेमें ही आत्माकी भलाई है। मोक्षके सिवाय अन्य किसी भी अवस्थामें शान्ति नहीं है। इस कारण मोक्षके लिये अपना पुरुषार्थ करना प्रथम आवश्यक है। तो वह कर्तव्य क्या है, वह मार्ग क्या है जिस मार्गपर चलकर हम मोक्षमें पहुंच सकें— वह मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जैसे किसी नगरमें पहुंचना हो तो मार्ग हुआ करता है जिसके सहारे पहुंचा जाता है। ऐसे ही पहुंचने वाला यह आत्मा है और मोक्षका मार्ग है सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणाम। अर्थात् यह आत्मा अपने आपके स्वरूपका ज्ञान करे और अपने आपमें रमनेका यत्न रखे तो देह भी छूटेगी, कर्म भी अलग होंगे, रागादिक विभाग भी दूर होंगे। तो यह आत्मा विशुद्ध होकर मुक्त होकर सदाके लिए आनन्दमय बनेगा। जिनको अपने हितकी वाञ्छा हो उनका कर्तव्य है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षमार्गमें निरन्तर परिणमन करें।

मोक्षके अर्थ, शान्तिके अर्थ उद्यमनका विश्लेषण— देखिये लोकमें यह जीवन करता क्या है? केवल ज्ञान करता है। दुकानमें लगे, घरमें लगे, रागद्वेषमें लगे, किसी न किसी में यह ज्ञान लगा रहे, उपयोग बना रहे, यही तो काम करता है जीव। अब छटनी करलो कि हम उपयोगको किस जगह लगायें कि हमारे आकुलता न हो? छटनी करते जाइये, एक एकका नाम लेते जाइये और उत्तर पाते जाइये। स्त्रीमें, पुत्रमें, अन्य कुटुम्बी जनोंमें धन धान्यमें, मकान महलमें कहीं भी अपना उपयोग लगाया जाय तो क्या शान्ति मिल सकेगी? उत्तर सब ओर से आयेगा कि शान्ति तो नहीं मिली। सर्वत्र अशांति ही अशांति मिली। फिर और ढूंढ़ो, कहां उपयोग लगायें कि शांति मिले? कुछ कुछ जंचेगा कि जो पुरुष संसारसे विरक्त हैं, जिनकी शरीरमें रुचि नहीं है ऐसे संतजनोंमें अथवा जो रागसे बिल्कुल दूर हो गए हैं ऐसे अरहंत भगवंतोमें यदि हम रुचि करें, उपयोग लगायें तो उपयोग मलिन नहीं बनता, विशुद्ध होता है और वहां शांति मिलती है जितनी देरको उपयोग ऐसे विशुद्ध तत्त्वमें लगा उतनी देर को कुछ मिली। बादमें वह उपयोग फिर हट जाता है। तो और कहां उपयोग लगायें कि आत्माको शांति मिले? सोचते जाइये। अब चलिये अपनी ओर। बाहरमें तो बहुत बहुत ढूंढ़ा, अरहंत भगवंतोंको भी देखा, वीतराग ऋषि सन्तोंको भी देखा पर कहीं शांति नहीं कहीं थोड़ी शांति है, मगर बात टिक कर नहीं रहती। अब अपनी ओर चलिये। जो तत्त्व हमारे भगवंतोंने निरखा ऐसा तत्त्व हममें भी है। अब अपने उस स्वरूपकी ओर चलिए। उस स्वरूपका सच्चा श्रद्धान होता है जैसाकि सहज अपने आप आत्माका स्वभाव है वहां श्रद्धा बनती है, वहां ही उपयोग लगता है और उसीमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रमनेका चित्त चाहता है। तो यह परमात्मतत्त्व यह आत्मस्वरूप जो कि दूसरेसे नहीं लेना है, दूसरी जगह नहीं देखना है, यह खुद ही है तो इतना तो सुभीता हो ही गया कि जिसमें हम चित्त रमाना चाहते हैं वह हम खुद हैं। वह कभी अलग न होगा, तो जिसमें हम अपना उपयोग लगाना चाह रहे वह चीज तो ध्रुव मिली अपनेको। अब उस ध्रुव चीजमें हम अपना उपयोग लगायें तो कोई धोखा नहीं है, पर राग वासनाका संस्कार ऐसा पड़ गया कि हम अपना उपयोग अपने आत्मस्वरूपमें जमा नहीं सकते। उसके लिये यत्न करें, स्वाध्याय करें, तत्त्वचर्चा करें, आत्मचिन्तन करें, इन उपायों द्वारा अपने आपमें रमनेका यत्न करें। यह उपयोग आत्माको मुक्तिके मार्गमें लगायेगा। जिन्हें अपना हित चाहिये उन्हें चाहिये कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्‌चारित्ररूप मार्गमें निरन्तर प्रयत्न करें और मुक्ति प्राप्त करें। यहां तक श्रावकाचार में अहिंसाव्रतकी मुख्यतासे ५ अणुव्रतोंकी जो रक्षा करें और अणुव्रतों के परिणामको जो बढ़ायें ऐसे जो अर्द्धवृद्ध हैं उनका वर्णन करते हैं।

परिधय इव नगराणि व्रत नि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अणुव्रतकी रक्षाके लिये सात शीलोंकी पालनीयता—जैसे नगरकी रक्षाके लिये नगरके चारों ओर खाइयां खोदी जाती हैं कोट बनाई जाती है तो उससे नगरकी रक्षा रहती है, कोई शत्रु नगर पर आक्रमण नहीं कर सकता है। इसी प्रकार इस अणुव्रतकी रक्षा के लिये अणुव्रतके चारों ओर सात शीलोंका नियम लिया जाता है, वे ७ शील आगे आवेंगे, पर यहां यह समझना चाहिये कि व्रतकी रक्षाके लिये अवश्य पालन करना चाहिये। यह शील एक बाड़ है। जैसे खेतोंके अन्नकी रक्षा बाड़ लगानेसे है ऐसे ही अणुव्रतोंकी रक्षा शीलोंसे है। वे शील क्या हैं, उनको क्रमसे कहते हैं।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥

दिग्व्रतनामक प्रथम शील—७ शीलोंके २ भाग करे—गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणव्रत उन्हें कहते हैं जो अणुव्रतमें और अधिक गुण उत्पन्न करें। अणुव्रतमें गुणोंकी वृद्धि करें, ऐसे नियमोंका नाम है गुणव्रत। गुणव्रत तीन हैं—उनमें प्रथम दिग्व्रत नामका स्वरूप कह रहे हैं—दिग्व्रतमें दो शब्द हैं—दिग् और व्रत। दिग् मायने दिशा और व्रत मायने नियम। चारों दिशावोंमें अपना नियम बना लेना कि हम इतनी दूरसे अधिकका अपना सम्बन्ध न रखेंगे, इस प्रकारका नियम लेकर जो पालन करे उसका नाम है दिग्व्रत। जो भी प्रसिद्ध गांव हो उनकी मर्यादा बना ले कि पूरबमें हम कलकत्तासे आगेका अपना सम्बन्ध न रखेंगे, दक्षिणमें मैसूरसे आगेका सम्बन्ध न रखेंगे, इसी प्रकार उत्तर तथा पश्चिममें इससे आगेका अपना सम्बन्ध न रखेंगे, ऐसे ही ऊपर नीचेका नियम लेना, ऊपर पहाड़ है और नीचे कुवा है, इनमें भी नियम लेना कि हम इतनी दूरीसे अधिकका सम्बन्ध न रखेंगे, इस प्रकारका नियम लेना दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत पालन करनेका प्रयोजन क्या है कि आरम्भ परिग्रह व्यापार सम्बन्ध परिचय व्यवहार इनका संकुचित दायरे में रहना। अपना परिचय उससे अधिक न बढ़ाना, उससे अधिक दूरका व्यापार सम्बन्धी काम न करना, अधिक विकल्प न बढ़ाना, उससे अधिक दूरकी चिट्ठी पत्री वगैरह न मंगाना आदि बातें दिग्व्रतमें शामिल हैं। हां, उससे अधिक दूरका माल अपने यहां आ जाय तो उसे खरीद सकते हैं। क्योंकि उसने अपना परिणाम खरीदनेका नहीं बनाया। मगर और प्रकारका सम्बन्ध उससे दूरका नहीं रख सकते। यह जो अपना क्षेत्र कम किया है वह इसलिये किया है कि हमें विकल्प अधिक न हो और समय समयपर अपना नियम निभाते रहें।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो वहिस्तस्याः।
सकलासयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

दिग्व्रतधारीके नियमित क्षेत्रसे बाहर अहिंसाव्रतकी त्रियोगसे परिपूर्णता—जो दिग्व्रतमें इस

प्रकारकी मर्यादा करते उन्हें चाहिये कि मर्यादाके बाहरके सभी प्रकारके असंयमोंको त्याग दें। आप समझ लें कि कमसे कम मर्यादाके बाहरकी अपेक्षासे उस मर्यादामें पूर्ण अहिंसाव्रत होता है। जैसे किसीने ५०० मील का नियम लिया तो अब उतनी दूरीसे बाहरका उसका किसी भी प्रकारका सम्बन्ध न रहेगा। अब उतनी दूरीसे बाहरका वह पूरा संयमी हो गया। जैसे किसीने ६ माहको ही रात्रिभोजनका त्याग कर दिया तो समझिये कि उसका ३ माह का उपवास हो गया। साथ ही बड़े विवेकका उपवास समझिये। रात्रिके भोजनमें बड़ा दोष है। इसी तरह यह भी समझिये कि जैसे दिग्व्रतका नियम रहता है तो दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहरके लिये तो वह एक तरहसे संयमी है, पूरा अहिंसक है। इसलिए दिग्व्रतका धारण करना श्रावकको आवश्यक है। इसमें कोई दिक्कत भी नहीं। एक मनको शांत रखना पड़ेगा। जहां तक की मर्यादा की जाती है उसके बाहरके जो त्रस जीव होंगे, स्थावर जीव होंगे उनका घात तो इसके द्वारा होता नहीं, इस कारण वह महाव्रती हो गया, इस कारण यह व्रत धारण करना श्रावकोंके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्॥१३९॥

देशव्रतनामक द्वितीय शीलका महत्त्व—एक साधारणरूप से व्रतोंकी कथनी कर लेने से उन व्रतोंका महत्त्व और व्रतोंके पालनका सही मर्म विदित नहीं होता। तब उन व्रतोंका क्या लक्ष्य है, उन व्रतोंके पालन करनेसे हम दृष्टि कहाँ ले जाते हैं? इस बातका बोध हो तो व्रतका महत्त्व विदित होता है और उनका मर्म ज्ञात होता है। दिग्व्रत पालन करनेमें जैसे बताया था कि श्रावकका उस मर्यादासे बाहरका विकल्प हट गया, अब उसने बाहरके त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसाकी वासना मिट गयी। बाहरकी अपेक्षासे वह बाहरके लिये महाव्रतीकी तरह है और भी देखिये—जैसे कोई भोगोपभोग महाव्रतमें हरी का नियम ले लेता है, मैं अमुक अमुक नामकी ५० हरीके अलावा बाकी हरी अपने जीवनमें न खाऊंगा तो समझिये कि नियमसे बाहर की हरीका त्याग उससे इस प्रकार है जैसे कि सकल त्याग हो जाता है, सर्वथा त्याग हो जाता है। ऐसे ही जो व्यक्ति देशव्रत पालन करता है वह मर्यादासे बाहरके क्षेत्रसे अपना किसी भी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता। इसका ही नाम देशव्रत है। यह देशव्रत किसी पर्वादिके समयपर किया जाता है। मैं इतने दिन तक अब इस मोहल्लेसे अथवा इस नगरसे बाहर न जाऊंगा, ऐसा नियम लेने पर फिर वह उतनेसे बाहरका न व्यापार कर सकता, न सम्बन्ध बना सकता, न किसीको बाहर भेज सकता, न किसीको बाहर से बुला सकता। अब तक यह मर्म और यह लक्ष्य ज्ञात नहीं होता तब तक व्रतोंका पालन करनेमें विडम्बना ही आती रहती है और अनेक हंसी मजाक हुआ करती हैं।

व्रतका उद्देश्य न जाननेसे क्रियाओंमें विडम्बना—जैसे एक कथानक है कि एक भाई जी थे, यह सागर की बात है। तो जहां पर भाई जी रहते थे वहीं पर हमारे गुरुजी भी रहते थे। उस समय गुरुजी थोड़े ही नियम लेकर घर पर ही रहते थे। तो बात क्या हुई कि उस भाई जी के यह नियम था कि हम कभी साग न छौंकेंगे और एक दिन खायेंगे, एक दिन न खायेंगे, ऐसा उनका नियम था। सो जो दिन उनका खानेका होता था वह उनका पूरा दिन खाना बनाने व प्रबन्ध करनेमें बीतता था। और साग तो काटकर रख लिया और उसे छौंकनेके लिये दूसरे का इन्तजार कर रहे थे कि कोई आवे तो साग छौंकवायें वह खुद न छौंक सकते थे क्योंकि उनके न छौंकने का नियम था। आखिर गुरु जी आ गए। भाई जी बोले कि हमारा साग छौंक दो। गुरु जी बोले कि तुम क्यों नहीं छौंक लेते? तो भाई जी ने कहा कि हमारा तो साग छौंकनेका त्याग है। तो गुरु जी ने कहा कि हम साग तो छौंक देंगे पर कह देंगे कि उससे जो पाप लगेगा वह तुम्हींको लगे। भाई जी ने बहुत मना किया पर गुरु जी ने छौंकते समय बोल ही दिया कि इसमें जो हिंसाका पाप लगे वह भाई जी पर लगे। तो व्रतोंके पालन करनेका लक्ष्य पूरा होना चाहिए तब व्रतोंका पालन होता है। देशव्रत और दिग्व्रतके पालन करनेका भाव यह है कि मर्यादाके बाहर

व्यापार सम्बन्धी, आने जानेका आनने पठानेका कोई सम्बन्ध न रखे, दिग्व्रतमें तो जन्मपर्यन्तका त्याग बताया है और देशव्रत में नियतकाल पर्यन्त त्याग बताया है। मैं ६ माह तक इतनी दूरीसे ज्यादाका सम्बन्ध न रखूंगा, ऐसा नियम हो तो उसमें विकल्प कम होते हैं और उससे देशव्रतका पालन होगा, और अगर विकल्प बढ़ाया तो पालन न होगा। जैसे कोई भोजनमें त्याग तो कर दे कि इन इन चीजोंको हमने त्याग दिया, मानो एक मीठे रसका त्याग कर दिया, कुछ धर्मबुद्धिमें आकर त्याग किया या भावुकतामें आकर त्याग कर दिया। पर जब भोजन करनेको होता तो बहुत-बहुत छुहारा किसमिस वगैरहकी मीठी चीजें बनवाकर खाते तो यह कोई मीठे रसका त्याग नहीं है। इस बातको सभी लोग जानते हैं। तो हर एक व्यक्तिका त्यागका कोई लक्ष्य होना चाहिए। जब लक्ष्य हो तभी त्याग निभता है। और कोई व्रतका लक्ष्य न पहिचानकर व्रत ग्रहण करे तो उससे व्रत नहीं निभता है। तो देशव्रतमें कौनसा महत्व है इस बातको अब एक गाथामें बतलाते हैं।

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसा विशेषेण ॥१४०॥

देशव्रतमें भी अहिंसाका विशिष्ट पालन—इस देशव्रतमें बहुतसे क्षेत्रका वह त्यागी हो गया, फिर भी बहुतसे देशोंसे क्षेत्रसे निकलता निर्मलबुद्धि वाला यह श्रावक उतने काल पर्यन्त जितने कालमें देशव्रतका नियम लिया है उतने कालमें उस मर्यादाके क्षेत्रसे बाहरमें उसकी हिंसा न होगी। उससे बाहर त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसाका परिहार हो गया तो वह उस व्रतको और अच्छी तरह निभा रहा है। प्रथम तो यह जानना चाहिए कि हमारे जितने भी व्रत हैं छोटेसे लेकर बड़े तक तो उन व्रतोंका लक्ष्य है अहिंसा व्रतका पालन हो, क्योंकि अहिंसा ही परमब्रह्म है, अहिंसा ही देवता है, अहिंसा ही शरण है। भगवान किसे कहते हैं? जो अहिंसाकी साक्षात् मूर्ति हो उसका नाम भगवान है। अहिंसाकी मूर्ति मायने ऐसा विशुद्ध ज्ञान, ऐसा रागद्वेष रहित निर्मल ज्ञान जिस ज्ञानमें कोई दोष नहीं, कोई तरंग नहीं, जिस ज्ञानसे अपना बोध हो रहा है, आत्मस्वरूपका घात नहीं है ऐसा ही स्वरूप है अरहंत भगवंत का। तो वह अरहंत क्या है, वह परमब्रह्म क्या है? अहिंसा। अब अपने आपको विचारें, अपने आपका स्वरूप कारण समयसार शुद्ध ज्ञायकस्वभाव आत्माका लक्षण, आत्माका निजस्वभाव इसे परमब्रह्म कहते हैं, वह अहिंसाकी मूर्ति है। स्वभावमें हिंसा नहीं पड़ी है। स्वभाव स्वभावका घात नहीं करता। न यह चैतन्यको छोड़कर जड़ बन जाता है। तो ऐसा जो अहिंसा स्वभावरूप परमब्रह्म है उस परमब्रह्मकी साधना ही समस्त व्रतोंका लक्ष्य है। कोईसा भी व्रत पालें, अहिंसा व्रत है। यह बात स्पष्ट ही है कि शुद्ध ज्ञानमात्र रहनेका लक्ष्य है अहिंसा व्रतका। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन पापोंके त्यागका भी यही लक्ष्य है। विकल्प जाल हटें, शुद्ध ज्ञान रहे और आत्माका जो विशुद्ध स्वरूप है उस स्वरूपमें हमारा रमण हो, छोटे से लेकर बड़े तक सभी व्रतोंका लक्ष्य है अहिंसाव्रतका पालन करना। दिग्व्रत का भी यही लक्ष्य रहा। और दिग्व्रतमें की हुई मर्यादासे बाहर तो यह पूरा संयमी है। देशव्रतमें भी यही लक्ष्य रहा, पर दिग्व्रत की अपेक्षा देशव्रतमें कुछ थोड़ी सी कमी है वह कमी यह है कि इसमें यह भाव भरा है कि १० दिनके लिए हमारा इतना नियम है, तो उसके बादके समयकी कुछ न कुछ मनमें तरंगसी बन जाती है, पर दिग्व्रतमें वह तरंग नहीं होती। इस प्रकार जो पुरुष दिग्व्रत और देशव्रतका पालन करते हैं। वे पूर्ण अहिंसाधर्मकी रक्षा करते हैं। और इसमें मूल जो अहिंसाणुव्रत है, अहिंसा व्रत है उस अहिंसा व्रतमें अरक्षा हुई है। इस प्रकार अणुव्रतोंकी रक्षाके लिए ७ शील पालन करना चाहिए, ऐसा जो बताया गया था, उन ७ शीलोंमें से २ शीलोंका वर्णन किया गया है। इस प्रकार दिग्व्रत और देशव्रतका नियम धारण करना चाहिए।

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

अनर्थदण्डव्रतनामक तृतीयशीलकी सविधि निष्पाद्यता—धर्मपालनमें अहिंसाकी मुख्यता है। जहां

http://sahjanandvarnishastra.org/

अहिंसा है वहां धर्म है और जहां हिंसा है वहां अधर्म है। अहिंसा नाम है आत्मामें रागद्वेषादिक विकार परिणाम न होनेका और आत्मामें रागादिक परिणाम हों उसका नाम हिंसा है। तो अहिंसाकी सिद्धिमें सर्वप्रथम यह बताया कि समस्त परिग्रहोंका परित्याग करके अपने आत्मामें ज्ञानबल बढ़ाकर निर्ग्रन्थ मुनि होकर आत्मध्यान करे तो वहां अहिंसाव्रत है, लेकिन जो ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हैं, गृहस्थजन हैं वे घरमें रहकर अणुव्रतका पालन करें और ७ शीलोंका नियम लें। अणुव्रतमें पहिला है अहिंसा अणुव्रत, दूसरा है सत्याणुव्रत, तीसरा है अचौर्याणुव्रत, चौथा है ब्रह्मचर्याणुव्रत और ५ वां है परिग्रहपरिमाण अणुव्रत। इन पांचोंमें यह लक्ष्य कराया है कि अपना परिमाण राग द्वेषसे रहित बनावें, संकल्प विकल्पसे अपनेको जुदा रखें, जितना संकल्प विकल्पसे जुदा रखें उतना ही अहिंसाका पालन है। इन ५ अणुव्रतों की रक्षाके लिए इसमें और अतिशय गुण उत्पन्न करनेके लिए ७ शील बताये हैं। ३ गुण व्रत और ४ शिक्षाव्रत। तीनमें पहिला है दिग्व्रत। अपने जीवनपर्यन्त चार दिशावोंमें कुछ क्षेत्रकी मर्यादा लेकर अपना सम्बन्ध रखना, फिर उससे बाहरके समस्त आरम्भ परिग्रहोंका परित्याग करना, इसका नाम दिग्व्रत है। फिर दिग्व्रत की मर्यादाके भीतर ही थोड़ा क्षेत्र घटाकर नियम करे उसे देशव्रत कहते हैं। जैसे दशलक्षणीके दिनों में मैं इस नगर से बाहर न जाऊंगा, फिर ऐसा नियम बनाकर बाहरी व्यापार तक का भी त्याग कियाजाता है। प्रयोजन यह है कि उपयोग कुछ समय भटके नहीं, उपयोग थोड़े क्षेत्रमें रहे जिससे हम अपने आत्मकल्याणकी साधना बना सकें, तीसरा है अनर्थदण्ड व्रत। जिन कामोंके करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं है फिर भी बहुत किये जाते हैं तो उन कामोंको छोड़ दें। बिना प्रयोजन यदि कामोंमें पापका प्रारम्भ है उनका त्याग कर देना सो अनर्थ दण्डविरति व्रत है। ऐसा अनर्थ दण्ड विरति व्रत होता है जहां अपना लाभ नहीं है। दूसरेका दिल दुखाना, अपना परिणाम बिगाड़ना उनमें अनर्थ (निष्प्रयोजन) दण्ड (पाप) होता है उनका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है।

अनर्थदण्डव्रतके प्रकार और उनमें से अपध्याननामक अनर्थदण्डव्रतका वर्णन—ये सब ५ प्रकार के अनर्थदण्ड परिणाम होते हैं। वे ५ क्या हैं, प्रथम तो अपध्यान, दूसरा पापोपदेश, तीसरा प्रमादचर्या, चौथा हिंसादान और ५ वां दुश्रुति। इनका वर्णन आगे कर रहे हैं। इनसे अपना काम कुछ नहीं होता। उनका त्याग करें। अपध्यानमें ऐसे ध्यानोंको बताया है जो अनर्थ हैं निष्प्रयोजन हैं और महापापोंका आरम्भ है, अपना कोई फायदा नहीं। जैसे कुछ लोगोंकी शिकार खेलनेकी प्रवृत्ति होती है, उन शिकारके के कामोंसे लाभ कुछ नहीं है पाप विशेष है। इनका ध्यान छोड़ना चाहिए। इसी प्रकार जय पराजय इस की हार हो इसकी जीत हो, जैसे जब भी तीतर या मुर्गा लोग लड़ाते हैं तो ऐसा ही छांट लेते हैं कि इसकी हार हो इसकी जीत हो, इससे प्रयोजन कुछ नहीं है, पर लोग जिसे अपना प्यारा मान लेते हैं उसकी जीत चाहते हैं और जो प्यारा नहीं है उसकी हार चाहते हैं। तो यह अपध्यान है। अपध्यान उसे कहते हैं जिसमें अपना लाभ कुछ नहीं और पापका बंध होता है। किसीकी जीत विचारना और किसी किसी की हार विचारना यह अपध्यान है। किसी की लड़ाईका ध्यान करना, पर स्त्रीके सम्बन्धमें खोटे चिन्तन करना अपध्यान है, इसी प्रकार झूठ बोलना, झूठे उपदेश देना, किसीको फंसाना आदिक जो अनेक खोटे चिन्तन हैं उनका नाम अपध्यान है, क्योंकि इस अपध्यानमें केवल पापका फल है, आत्माकी कोई सिद्धि नहीं है। सो जो गृहस्थ जन हैं, जिन्होंने व्रत धारण किया है, अपनी उन्नति जो चाहते हैं वे ऐसे अपध्यान नहीं करते। दूसरा अनर्थदंड है पापोपदेश। इसका लक्षण कह रहे हैं।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पिजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

पापोपदेशदाननामक अनर्थदण्डव्रतका वर्णन—विद्या व्यापार मसीकृषी सेवा शिल्पकी आजीविका करने वाले पुरुषोंको पापका उपदेश देने वाले वचन कभी न बोलने चाहियें। ऐसे वचन कभी न बोलने चाहियें जो पाप उत्पन्न करें। जैसे विद्या सिद्ध करनेकी बातें बताना। देखो ऐसे विद्या बांध लो तो जिस चाहे पुरुषको तुम अपना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सेवक बना लोगे। जिसे जैसा चाहोगे उसे वैसा बना लोगे। ऐसी कोई बात कहे। ऐसा कोई करने लगे और उससे दूसरेका दिल दुखे, तो ऐसी विद्याका उपदेश न देना चाहिए। इस प्रकारका भी उपदेश न देना चाहिए जिसमें दूसरे जीवोंकी हिंसा हो। जैसे बताना कि अमुक देश में गाय भैंस बहुत हैं, वहांसे खरीदो, वहां ले जावो, इस प्रकारकी बात बताना यह पापोपदेश है। जिससे कुछ लाभ भी नहीं है और वहां ही आनन्द आता है। यहां वहां की बात बताने में पापोपदेशकी बात कही है। चाहिए तो यह गृहस्थको कि हमेशा कम बोले। पापके उपदेशका व्याख्यान तो दूर रहा, अपना जिसमें प्रयोजन है ऐसा कमसे भी कम बोले। कम बोलनेमें एक तो बुद्धि सजग रहती है यह बहुत कुछ विचार कर सकता है और कम बोलने वाला पुरुष जब बोलेगा तो संभाल कर बोलेगा, अपनी और दूसरेकी भलाईके वचन बोलेगा। इसलिए प्रथम कर्तव्य है कि कमसे कम बोलें और बोलें भी तो ऐसी बात बोलें जिसमें दूसरे जीवोंको दुःख न उत्पन्न हो, अपने आपको झंझट और विकल्प न आयें। तो ऐसे कोई वचन हों जिनसे हिंसा हो तो वह पापोपदेश अनर्थदण्ड है। इसी प्रकार और और प्रकारके आजीविका करने वाले पुरुष ऐसे वचन बोलते हैं जिनमें पापोपदेश हो तो पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है। इसमें अपने को लाभ कुछ नहीं होता, केवल पापका बंध होता है। व्यर्थके विकल्प बढ़ाना यह भी अनर्थ दण्डमें शामिल है, तीसरा अनर्थदण्ड बताया प्रमादचर्या।

भूखनन वृक्षमोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसे चनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

प्रमादचर्यानामक अनर्थदण्डव्रतका वर्णन—इस अर्थदण्ड के प्रकरणको सुनकर इतनी बात तो पहिले लेना ही चाहिए कि हमारा मनुष्योंके प्रति साधर्मियोंके प्रति ऐसा विशुद्ध व्यवहार हो कि किसी को कोई कष्ट उत्पन्न न हो मेरे व्यवहारके कारण। इतनी बात तो होनी ही चाहिए, नहीं तो अनर्थदण्डके नाम पर हम छोटे-छोटे पेड़ पौधोंके जीवोंकी तो रक्षा करें और साधर्मी मनुष्य जैसे बड़े मन वाले पुरुषोंका कोई विचार ही न करें, उनको चाहे कष्ट हो पर अपना व्यवहार खोटा रखें तो यह अनर्थदण्डसे भी महान् अनर्थदण्ड है। यह प्रमादचर्या नामक अनर्थ-दण्डमें बतला रहे हैं कि गृहस्थ त्रस जीवोंकी तो हिंसा करता ही है मगर त्रस जीवोंकी हिंसा करे तो व्रत भंग ही हो गया लेकिन और स्थावर जीवोंका घात भी बिना प्रयोजन न हो, जैसे पृथ्वी खोदना, अपनेको बहुत जरूरी हो मिट्टी की तो मिट्टी खोदकर लाना पड़ता है पर व्यर्थमें मिट्टी न खोदना चाहिए, इसी प्रकार बिना प्रयोजन डाली पत्ती फलफूल वगैरह भी न तोड़ना चाहिये। बहुतसे लोगोंको यह शौक होता है कि छोटी-छोटी घासको मशीनसे काटकर मदृवेदार बनाते हैं फिर उसपर चलते हैं, पर यह तो बतावो कि उसमें लाभ कौनसा पाया? यह भी अनर्थदण्ड है। बहुत पानी सींचना, बहुत पानी बिखेरना, बहुत पानीसे नहाना—ये सब अनर्थदण्ड हैं। भगवानके नाम पर भी अनेक तरहके फूल तोड़कर लाना फिर किसी देवको पूजना यह भी एक अटपटी सी बात है। बिना प्रयोजन पत्र फल फूल तोड़ना इसकी भी मनाही है। तो कहते हैं कि गृहस्थ जीव त्रस हिंसाका तो पूर्ण परित्याग करते ही हैं, पर जहां तक बने स्थावर जीवोंकी भी रक्षा करनी चाहिये। जब तक कोई खास जरूरत न हो तब तक किसी भी जीवकी विराधना न करें। इसके अलावा और भी अनेक बातें हैं। जैसे कुत्ता पालना, बिल्ली पालना, तोता, कबूतर पालना इनसे आत्माकी कौनसी सिद्धि है? बहुतसे कबूतर पाले, किसी बिल्लीने कबूतर खा लिए तो खुदको भी बड़ा खेद होगा, खुदको भी हिंसा लगेगी, यही बात तोता आदिक पालनेमें भी है। किसी तोते को पालने से तो वह तोता बन्धन में आ गया। स्वतन्त्र होता तो जहां चाहे खेलता पर स्वतन्त्र न होनेसे वह कहीं जा नहीं सकता। कुत्ता पाल लिया तो वह हिंसक जानवर है, उसके पालनेसे कोई सिद्धि नहीं है। रही यह बात कि कदाचित् मानलो अपना मानकर उसे खिलाते तो श्रावकाचारमें किसीको अपना मानना यह भी बात ठीक नहीं मानी गयी। यदि कोई हिंसक जानवर पाला है तो उसे उसी प्रकारका हिंसक खाना देना पड़ता है, तो वह भी अनर्थदण्ड है। उससे कुछ सिद्धि नहीं है।

जहां कुछ सिद्धि नहीं हैं, केवल पापोंका बन्ध है ऐसे अनर्थ दण्डका भी त्याग करना चाहिये। चौथा अनर्थदण्ड बताते हैं हिंसा दान।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

हिंसादानविरतिनामक अनर्थदण्डव्रतका वर्णन—हिंसा दान नामक अनर्थदण्ड उसे कहते हैं जो चीज हिंसाके कारण हैं उन चीजोंको दूसरेको बताना अथवा देना सो हिंसा दान अनर्थदण्ड है। हिंसाके जितने साधन हैं उनके बिना यदि अपना कार्य न चलता हो तो रख तो ले, परन्तु वह साधन दूसरे को न दें। जैसे बन्दूक किसीके पास है और किसीको चोर, बदमाशोंको दूर भगानेके लिए उससे बन्दूक मांगनी पड़े तो उसे न देना चाहिए। यदि उसे मांगनेसे दे दे तो यह हिंसा दान है। वह न जाने उस बन्दूकसे क्या-क्या करे? न जाने किस-किसको मारे? ऐसे ही छुरी, अग्नि, हल, तलवार, धनुष ये हिंसाके उप-करण उन्हें दूसरोंको देना इसका नाम है हिंसा दान नामक अनर्थ-दण्ड। यहां तक कि किसी बेसमय पर कोई पुरुष आग मांगे तो आग भी न दे। यदि यह जान जाय कि यह तो अमुक है, अपनी रसोई बनाने के लिए या अमुक काम के लिए जा रहा है तब तो बात और है, लेकिन न जाने यह आग लेकर क्या करेगा? किसीके घरमें आग लगावेगा या अन्य कहीं। तो यहां तक कि जो हिंसाके साधन हैं उन्हें दूसरों को न दें। साधर्मी जन परस्परमें गृहकार्यके लिए ले दे सकते हैं मगर अनजानको, गैरको न देना चाहिए। अगर देगा तो वह पापबंध करेगा। तो किसीको हिंसाका साधन दे दे तो वह हिंसा दान है।

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

दुःश्रुतिविरतिनामक अनर्थदण्ड विरतिका वर्णन—जो रागद्वेष मोह आदिकको बढ़ावे, जिसमें अज्ञानता भरी हुई हो ऐसी खोटी कथावोंका सुनना, सीखना, खोटी कथावोंका संग्रह करना—ये सब अनर्थ दण्ड हैं। बिना प्रयोजनके कामोंमें जिनमें पापोंका प्रारम्भ हो उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। कुछ कथायें ऐसी होती हैं जो खोटी बातोंसे भरी होती हैं। किसी पुरुषने किस तरहसे प्रेम किया, किस तरहसे धोखा दिया, किस तरहसे मारा, आदि। तो ऐसी पुस्तकोंका खरीदना यह सब अनर्थ दण्ड है। क्योंकि जिन कथावोंमें शृङ्गार बसा हो, जिसमें प्रीति कामकी बात सिखाई गई हो, धोखा छल चोरी, डकैती आदिक बताये गए हों उनसे धर्म तो है नहीं, लेकिन इस प्रकारकी कथावोंमें लोगोंका चित्त बहुत लगता है और ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन भी बहुत होता है। उन विकारभरी कथावों को उपन्यासकी पुस्तकोंमें अन्तमें लिख देते हैं कि इसके आगेकी कथा दूसरे भागमें है, तो लोग उस भागकी पुस्तकको बहुत-बहुत खोज करके खरीदते हैं। तो ऐसी पुस्तकोंका पढ़ना यह सब अनर्थदण्ड है। इससे न तो कोई आजीविका की सिद्धि है और न कोई परलोककी सिद्धि है। यहां भी लोगोंको दो बातोंकी आवश्यकता है, एक तो आजीविकाका साधन ठीक बना रहे और दूसरे परलोक हमारा ठीक रहे। सभी लोग जानते हैं कि यदि गृहस्थीमें रहकर आजीविका का साधन नहीं है तो बड़ा कष्ट होता है और वह निर्धन व्यक्ति अधर्म पर भी उतारू हो जाता है। पैसा पासमें न होने पर वह अनर्थ कर सकता है। किसीको मारकर धन लूट ले, किसीको चालबाजीसे फंसा दे, वेश्यागमन, परस्त्री सेवन तथा और और प्रकारकी विडम्बनाएं बना सकता है। हां, वह निर्धन व्यक्ति यदि ज्ञान बढ़ाकर साधु बन जाय तो बात और है, पर जहां घर बसाये हैं, बीबी बच्चे हैं वहां उनके पालन पोषणकी चिन्ता रहेगी। तो पासमें कुछ पैसा न होने पर वह बड़े-बड़े अनर्थ कर सकता है। तो आजीविका का साधन बनाना गृहस्थोंके लिए बहुत आवश्यक बात है। तो दूसरी बात यह आवश्यक है कि ऐसा सद्ज्ञान करें जिससे परलोक न बिगड़े। मान लो एक भवमें बड़ा मौज कर लिया तो यह ५०, ६०, या १०० वर्षका समय इस अनन्त कालके सामने क्या समय है? एक बहुत बड़े भारी स्वयंभूरमण समुद्रमें एक बूंदकी तो कुछ गिनती हो सकती है, उस एक बूंदका भी गणित बन सकता है पर इस सागरों पर्यन्त समयके आगे यह १००, ५० वर्षका जीवन कुछ भी कीमत नहीं रखता। तो मान लो एक इस भवको

http://www.jainkosh.org

मौजमेंही बिता देनेसे क्या लाभ है ? विषयकषायोंमें ही रमकर यदि इस थोड़ेसे जीवनको बिता भी लिया तो उससे क्या पूरा पड़ेगा ? अरे कुछ समय बाद फिर आगे बहुत काल तक संसारमें जन्म मरण करना पड़ेगा। तो गृहस्थोंको सर्वप्रथम् आवश्यक है आजीविका का साधन बनाना और फिर अपने परभवकी संभाल रखना तो जिन कामोंके करनेसे न आजीविकाका सम्बन्ध है और न धर्मका ही सम्बन्ध है, वे सब कार्य अनर्थदण्ड हैं। विकारयुक्त कथन पढ़ने सुननेसे, उनमें उपयोग लगानेसे तो पापबन्ध ही होता है, तो ऐसे कथन सुनने पढ़नेका सर्वथा त्याग करना चाहिये यदि कोई ऐसी बातें सुने तो वह दुश्रुति नामक अनर्थदण्ड है।

अपने व्यवहारको सर्व अनर्थदण्डोंसे बचाये रहनेको प्रेरणा—हमारे जीवनमें व्यवहारमें ऐसे वचनों का प्रयोग न होना चाहिये जो वचन दूसरेके मर्मको भेदें, दूसरेको कष्ट पहुंचायें ऐसे वचन न बोले जायें. जैसे किसीका अपमान करने वाले वचन। इतनी हिम्मत बनायें, इतना ज्ञान बढ़ायें कि किसी भी घटना में अपने को क्रोध उत्पन्न हो रहा हो तब भी वचन हम ऐसे न बोलें कि मर्मको छेद देवें। कारण यह है कि क्रोधमें हम दूसरेको बुरा समझ रहे हैं। हम तो समझ रहे, क्या यह निश्चित है कि वह बुरा ही है ? जब क्रोध उत्पन्न होता है तो बुद्धि आधी रह जाती है, बिगड़ जाती है। हम सही बातका विचार नहीं कर सकते। तो क्रोधमें जो कुछ निर्णय किया जाता है वह निर्णय सही नहीं बनता। अपनी ऐसी प्रकृति बनावें कि कैसा ही कारण उपस्थित हो, दूसरेको मर्मछेदी वचन न बोलें। और यह बात तब सिद्ध हो सकती है जब पहिले तो यह लक्ष्य बनावें कि हमें बहुत कम बोलना है। बोलना ही नहीं है। कोई काम पड़ जाये तो बोलें। ऐसी आदत बने तो उसमें यह प्रकृति बनेगी कि दूसरेका अपमान करने वाले मर्मछेदी वचन न बोलेंगे। एक कहावतमें कहते हैं कि जितनी चोट तीरसे भी नहीं लगती उतनी चोट बात से लगती है और फिर बातकी चोट पहुंचानेसे इसे कुछ सिद्धि भी नहीं मिलती। कितना ही कठिन समय हो, कैसी भी बात अपने पर गुजरे, पर मर्मभेदी वचन किसीको न बोलना चाहिये जिसे आज अपना विरोधी समझा है उससे यदि वचन व्यवहार अच्छा रखा जाय तो सभी मित्रोंसे बढ़कर वह आपका मित्र बन सकता है। खोटे वचनोंसे सिद्धि क्या और उसे जो सुनेगा उसे बुरा कहेगा। यह बड़ा तुच्छ है, छोटे दिल वाला है, अधीर हैं, इस प्रकार लोग इसे तुच्छ समझेंगे, अतएव खोटे वचन न बोलने चाहियें। यह बात तब बनती है जब यह निर्णय बनालें कि हमें बोलना कम है। जब काम पड़े जब सोच विचार कर बोलें। ऐसा व्यक्ति प्रिय वचन बोलेगा जो कि दूसरोंके लिए हितकारी होंगे। हम सभी कर्मों के, शरीरके बन्धनमें पड़े हैं, इस संसारके संकटोंसे निकलना है इसके लिए शान्त वातावरण बनाना है। शान्त वातावरण बनानेका प्रधान साधन है हित मित प्रिय वचन बोलना। हित, मित, प्रिय वचन बोलने से खुदको भी और दूसरोंको भी शांति मिलेगी तो यह ५वां अनर्थदण्ड बतला रहे हैं दुश्रुति। खोटे वचन सुनना सुनाना यह सब दुश्रुति अनर्थदण्ड है। ऐसे समस्त अनर्थदण्ड केवल पापके बन्धके कारण हैं, ये आत्माके लाभकी बात नहीं करते, अतएव इतका त्याग कर देना अनर्थदण्ड विरति व्रत है। इस प्रकार श्रावकोंका यह तीसरा शीलव्रत है अनर्थ दण्ड विरति व्रत।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यसित्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥

अनर्थसिरताज जुवाके त्यागका उपदेश—श्रावकोंके आचारमें यह अनर्थदण्ड व्रत चल रहा है। जिन कामोंमें न तो अपनी आजीविका का प्रयोजन हो, न अपने उदरपोषणका प्रयोजन हो और न कोई धर्म की सिद्धि हो, ऐसे कामोंका करना अनर्थदण्ड है। जैसे पहिले बता चुके हैं कि पाप भरा उपदेश देना, हिंसाकी चीज दूसरे को देना, बिना काम ही बहुत चिंतन करना, कुत्ता बिल्ली पालना, फल फूल, पत्र त्तोड़ना—ये सब अनर्थदण्ड हैं। यहाँ बतलाते हैं कि सब अनर्थोंका राजा जुवा है। जुवामें बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। हारा है तो हार गया, जीता है तो जीत गया। समस्त अनर्थोंमें प्रथम समस्त व्यसनोंका प्रथम मुखिया जुवा है जो कि सन्तोषको नाश करने वाला है। जुवा

http://sahjanandvarnishastra.org/

खेलने वाले लोग कभी सन्तोष नहीं कर सकते। उनकी जिन्दगी बेकार है और जिसे जुवेका व्यसन लग गया वह कोई रोजगार भी नहीं कर सकता। उसे तो केवल जुवाका ही शौक है, उसकी ही धुन है, उसमें ही वह अपनी बर्बादी करता है। भिखारी बनकर भीख मांगता है, उसे सन्तोष नहीं होता। दूसरे जुवा मायाचारका घर है। जुवा खेलने वाले बहुत अधिक मायाचार करते हैं। एक दूसरेसे छलका व्यवहार करना, एक दूसरेसे कपट रखना, अपने मनकी बात किसी दूसरेसे न बताना, सारे कपट जुवेमें चलते हैं। जुवा, चोरी और झूठका स्थान है। जुवारी लोग सत्यवादी नहीं होते। किसी भी प्रकार हो धन चाहिए। जुवाके धोरे भी खड़ा होना पाप है, उसकी बात सुनना समझना ये सब अनर्थ हैं। तो समस्त अनर्थोंका मुखिया जुवा है। बड़े-बड़े राजा महाराजा भी यदि जुवेके चक्करमें आये तो उनको राज्य खो देना पड़ता है। एक पाडवोंकी ही कथा सुनी होगी। कौरवोंने एक जुवाका नाटक रचा जिससे पांडवोंका राज्य छीन लिया जाय। तो फिर क्या-क्या बातें घटी सो सभी जानते हैं। यह जुवा बरबादीका ही कारण है। अगर जुवा खेलने वालेके पास सम्पदा भी रहे तो उसके चित्तमें सन्तोष नहीं रहता। इसलिए जुवा व्यसन सब अनर्थोंका राजा है। जुवा खेलने वाले चोरी डकैती भी करते हैं। जब पासमें पैसा नहीं है तो चोरी करेंगे। जुवा खेलने वाले झूठ बोलते हैं सच्चाईका वहां काम ही नहीं है। झूठ बोल बोलकर हैरानी उठाना यह उनका काम है। जब हारते हैं तो जीतनेकी तृष्णामें अथवा मोहमें चोरी करना पड़ता है, सो असत्य बोलते हैं। जब जीतते हैं तो वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, ऐश आराम करना ये सब बातें बन जाती हैं। सब व्यसनोंका राजा जुवा है। जुवामें भावहिंसा बहुत है। हालांकि उसमें कोई कीड़ामकौड़ा नहीं मर रहे पर जुवा खेलने वालेके परिणाममें इतनी आकुलता रहती है कि उसे चैन नहीं है, वह निरन्तर अपने चैतन्यप्राणका घात करता रहता है। तात्पर्य यह है कि जुवा खेलनेमें पाप बन्ध अधिक होता है, वह भी बुरे भावका पाप है। भाव मरण कहो। अपने भावसे अपने ही स्वभावका मरण करता जा रहा है। जहां ज्ञान और आनन्दकी सुध नहीं रहती, जहां अपने आपमें चेतनेकी सुध नहीं है उसे तो बेहोश समझना चाहिए। जुवा खेलने वालेका उपयोग बाहरमें बहुत भटकता है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष ही ऐसे व्यसनोंमें आसक्त होता है।

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

अन्य भी अनेक अर्थदण्डोंके त्यागका उपदेश— इसी प्रकार और भी कई अनर्थदण्ड होते हैं, उन्हें हर एक कोई जान भी जाता है कि यह अनर्थदण्ड है, इसमें हमारी कोई सिद्धि नहीं है और पापका काम है, ऐसे समस्त अनर्थदण्डोंका परित्याग करना चाहिये। जो मनुष्य इन अनर्थदण्डोंका परित्याग करता है वही निरन्तर अहिंसाव्रतका पालन करता है। हिंसा होती है अपने संक्लेश परिणामसे या रौद्रपरिणामसे। अपने आपके स्वरूपका घात करें उसमें हिंसा होती है। आत्मा तो आनन्दमय है, इसे कोई क्लेश ही नहीं। स्वरूप देखें, स्वभावदृष्टिमें लेवें तो इसमें किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं है। यह स्वरूप अनादिसे ओतप्रोत है लेकिन मोहवश परमें दृष्टि लगाकर हमने अपने आनंद का घात किया है, तो क्या किया? हमने अपनी हिंसा की, अपना बिगाड़ किया, मोह रागद्वेष परिणामसे आत्माके चैतन्यप्राणका घात होता है। अपने आपमें बसे हुए परमात्मास्वरूपकी हिंसा होती है, यह द्रव्यहिंसा, इसी भावहिंसा के कारण हिंसा कहलाती है। वास्तवमें अपने ज्ञान दर्शन प्राणका घात करना सो हिंसा है, लेकिन मोह करके बड़े राजी होते हैं, उन्हें यह पता नहीं है कि इस तरह राजी होनेमें हम अपने परमात्मास्वरूपकी हिंसा कर रहे हैं। मोहमें होता क्या? कर्मबन्ध, बाह्यदृष्टि। जन्म मरण करनेमें लाभ क्या मिला? जन्म मरण की परम्परा मिलती है मोह करनेसे। जो देह पाया है इस देहमें यह मैं हूं, ऐसा अभिमान बनाना मोह है। और फिर इस मोहके कारण शरीरका लोभ करना पड़ता है। शरीरका आराम बनाता पड़ता है, इन्द्रियकी साधना बनानी पड़ती है, फिर तो बाहरमें बहुत कुछ डोलता रहता है। मोह करनेऐ अपने परमात्मस्वरूपकी हिंसा है। यह मौज मानने की बात नहीं है, घरमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रह रहे हैं, घरके अच्छे लोग हैं, खूब बढ़िया साधन हैं तो इसमें मौज मत मानो। इससे आत्माका लाभ नहीं है। इसीसे तो जगतको धोखा कहते हैं। लग तो रहा है अच्छा और हो रही है बरबादी। जैसे मोह करनेमें लग तो रहा है अच्छा, उस समय दिल रागी हो रहा है मगर अपने आपके आत्मा की कितनी बरबादी हो रही है? इसका पता नहीं रखते। यह भी धोखा है। मोह रागद्वेष परिणाम ही हमारा बैरी है दूसरा कोई हमारा बैरी नहीं। खूब समझ लो, कोई दूसरा मेरा अनर्थ नहीं करता। कैसे करेगा? दूसरा तो दूसरा ही है, दूसरेका परिणमन दूसरेमें है, वे जैसी कषाय करें, जो इच्छा करें, जो भी परिणाम करें सो वे अपना परिणाम कर रहे हैं, मेरा कुछ नहीं कर रहे, मैं अपने आपके मोह परिणामसे बरबाद हो रहा हूं क्योंकि उस परिणाममें मुझे अपना पता नहीं रहता। बाह्यकी ओर हमारा आकर्षण रहता है, यह ही अज्ञानभाव है। इस भावमें कर्मोंका बंध है और हम भी स्वयं विभावमें जकड़ जाते हैं उसके कारण जन्म मरण शरीरकी परम्परा मिलना और शरीरकी वेदना भूख प्यास नाना प्रकारके कष्ट होना—ये सब हमें मोहके कारण प्राप्त होते हैं। तो हमारा बैरी मोह भाव है।

धर्मपालनकी पात्रताके भाव—धर्मपालन करना है तो सबसे पहिले यह दृष्टि डालें कि हे नाथ! मेरा यह मोह परिणाम दूर हो और मैं कुछ नहीं चाहता। मोह भाव दूर हो गया तो सब शान्ति मिल चुकी, फिर कोई कष्ट नहीं है, कष्ट तो मोहका है और व्यर्थका मोह। कोई जीव कहींसे आया, कुछ दिन के लिए संयोग मिला, अन्तमें वियोग होना ही पड़ता है सबसे बिछुड़ना पड़ता है। जो अपने घरमें गुजर गए हैं उनसे ही शिक्षा ले लो, उन्होंने भी बहुत-बहुत मोह किया, घर बसाया, व्यवस्थायें बनाया, अब उनका क्या रहा? जिन-जिनसे भी उन्होंने ममता की थी स्त्री, पुत्रादिक से, उनमें से कोई रह गया क्या? जितने दिन उनमें ममता की उतने दिन अपनी बरबादी कर ली और चल बसे। संसारका यही खेल चल रहा है, मोह करना और अपनी बरबादी करना। मर जाना, आगे फिर कष्ट पाना, मोह करना बरबादी करना, यही दो काम इस संसारी जीवके। ये बड़े बड़े राजमहल, बड़े-बड़े ठाठबाट जो दिखनेमें आ रहे हैं उनसे यह ही तो शिक्षा मिलती है कि ये लोग कैसे मस्त हो रहे पुण्यके ठाठमें, किस किसमें उन्होंने अपनी बढ़वारी समझी, कैसे कैसे ठिकाने बना गए, क्या किया? मोह किया अपनी बरबादी की, चल बसे। तो मोह रागद्वेषके सामन अपना कोई बैरी नहीं है, यह अपनेमें निश्चय रखो। जब कभी भी दुःखी हों तो यह निर्णय रखें कि मुझमें मोह और राग बसा है इसलिये दुःखी हैं। भाईने यों किया इस कारण दुखी हैं यह बात गलत है। घरके किसीने यों व्यवहार किया इससे मुझे दुःख हुआ यह बात गलत है। कोई दूसरा आदमी चाहे कुटुम्बका हो, चाहे बाहरका हो हमको दुःखी नहीं कर सकता। हमारे में मोह बसा है, राग बसा है, अपनाते हैं इसलिए दुःखी होते हैं। दुःखका कारण हमारा मोहरागद्वेष परिणाम है अन्य कोई नहीं। इस दुःखके मिटानेका उपाय है—निजको निज परको पर जानना। बस जानलें कि देहसे भी निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र जो चैतन्यप्रकाश है वह मैं आत्मा हूँ। वह तो मैं हूं और उस भावको छोड़कर अन्य जो कुछ भी तत्त्व हैं, शरीर है, रागादिक भाव हैं, कर्म हैं, विभाव हैं वे सब परतत्त्व हैं। अपने आपके स्वरूपको जानकर उसमें ही 'यह मैं हूं' इस प्रकारकी अपनी प्रतीति बने तो दुःख दूर हो जायेगा। जब भी संसारके संकट दूर होंगे तो इसही उपाय से हो सकेंगे। अब इस कामको चाहे अभी करलें चाहे अन्य किसी भवमें, पर जितना जल्दी हो सके यही उपाय बना लें अन्यथा जो यहां के समागमकी सुविधा से चूके तो पता नहीं कि कितने समय बाद अवसर मिल सकेगा? यह बहुत बड़ा संसार है जिसे हम आप एक मूली गाजरकी तरह खतम कर रहे हैं। अपने आप की सुध नहीं ले रहे हैं। अरे भाई अपनी प्रतीति रखें और परिस्थितिवश कुछ कार्य करना पड़े तो विवेक सहित तो करें। जिसमें अपनी इन्द्रियके विषयोंमें आसक्ति न बने, अपनेमें विषय कषाय न जगें, अपने कारण दूसरों को कष्ट न पहुँचे ऐसी प्रवृत्ति बनावें और अन्य सब अनर्थके काम है जिनसे अपनी कोई सिद्धि नहीं है। उन कामोंका परित्याग कर दें। तो यह गुणव्रतमें भी तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्डविरति व्रत चल रहा है। अनर्थदण्डविरति व्रतका पालन करनेसे ही बुद्धि ठिकाने रह सकेगी। जो जुवा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

खेलना, खोटा बोलना और व्यर्थके प्रमादके काम करना ऐसी बातोंमें अपना उपयोग लगाते हैं वे आत्माकी ओर टिक नहीं पाते। जो पुरुष इन सब प्रकारके अनर्थोंका त्याग करता है वह पुरुष अहिंसाव्रतका पालन करता है अर्थात् अपने आपके स्वरूपकी रक्षा करता है।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

सामायिक शिक्षाव्रत नामक चतुर्थशीलका वर्णन—अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए ७ शील बताये गए थे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। उनमें ३ गुणव्रतका तो वर्णन हो चुका, अब शिक्षाव्रतका वर्णन कर रहे हैं, जिन व्रतोंके पालनेसे मुनिधर्मकी शिक्षा मिले उसे शिक्षाव्रत कहते हैं। प्रथम शिक्षाव्रतका नाम है सामायिक, दूसरा शिक्षाव्रत है प्रोषधोपवास, तीसरा शिक्षाव्रत है भोगोपभोग परिमाण और चौथा शिक्षाव्रत है अतिथिसम्विभागव्रत। तो चार व्रतोंसे मुनिधर्मकी शिक्षा मिलती है। सामायिकका अर्थ है समतापरिणाम बनाना। गृहस्थ अपनी कुछ सामायिककी क्रियासे कुछ समाधिके पाठ स्तवनसे सामायिकमें किए जाने वाले चिंतनसे समताभाव ग्रहण करनेका उद्योग करता है और समता मुनिधर्म है। मुनि और किसका नाम है ? जिस आत्मामें रागद्वेष न हो, पक्षपात न हो, केवल एक अपने आत्मतत्त्व की धुन बनाये हुए जो समस्त आरम्भ परिग्रहोंसे निवृत्त हो गया हो उसे मुनि कहते हैं। मुनि समताके पुंज होते हैं, उनके शत्रु तथा मित्र दोनोंमें समताका भाव रहता है।

मुनिराजकी परमसामायिकका एक दृष्टान्त—जब श्रेणिक राजाने ईर्ष्या करके एक जंगलमें जाकर मुनिके गलेमें मरा हुआ सांप डाल दिया, सांप डालकर आये तो श्रेणिकने रानीको चिढ़ाना शुरू किया, और फिर बताया कि हम तुम्हारे साधुके गलेमें सांप डालकर आये हैं। रानी चेलना बोली कि तुमने जो कुछ किया वह अपनी बुद्धिके अनुसार ठीक किया लेकिन यदि वह हमारे साधु हैं तो उस स्थानसे चिगे न होंगे, वे उसी मुद्रा में वहीं बिराजमान् होंगे। राजा श्रेणिक बोला—अरी बावली दो तीन दिन हो गये, वे तो कहींके कहीं चले गए होंगे, सांपको हाथ से पकड़कर फेंक दिया होगा। तो चेलना बोली—नहीं ऐसा नहीं हो सकता, चलो उनके दर्शन करने चलें। जब उस जंगलमें दोनों गए तो देखा कि वे मुनिराज उसी मुद्रामें बैठे थे, दो तीन दिन हो गए थे, सांप गल गया था, चींटियां चढ़ गई थीं। उस दृश्यको देखकर श्रेणिक राजाको बड़ा पश्चाताप हुआ, सोचा, अहो ! मैंने ऐसे ज्ञानी योगी पर उपसर्ग किया। श्रेणिक सांपको हटाने लगा तो चेलनाने रोक दिया, कहा रुको, इस तरह सांपको नहीं हटाया जा सकता। ऐसा करनेमें इन चींटियों को बाधा होगी। सो थोड़ी-सी शक्कर नीचे डाल दी, सारी चींटियां उतर आयीं तब बड़ी सुकुमाल वृत्तिसे उस सर्पको गलेसे निकाला। उपसर्ग दूर हुआ। उपसर्ग दूर होने पर ज्यों ही साधुकी आंख खुली और देखा तो ये शब्द निकले उन मुनिराजके मुखसे—उभयो धर्मवृद्धिरस्तु। दोनोंको धर्मवृद्धि हो। ये शब्द सुनकर श्रेणिकके चित्तमें और अधिक परिवर्तन हुआ। धन्य हैं ये मुनिराज। मैं तो उपसर्ग करने वाला पापी और यह रानी चेलना शुद्ध सम्यग्दृष्टि, धर्मात्मा, दोनोंको देखकर भी मुनिके चित्तमें यह बात न आयी कि यह तो धर्मात्मा है, मित्र है, उपसर्ग हटाने वाली है और यह उपसर्ग करने वाला है, शत्रु और मित्रका परिणाम इन महाराजके नहीं है। तब और अधिक पछतावा हुआ, ओह ! मैंने कितना अनर्थ किया, अपनेको उसने बहुत धिक्कारा और यह निर्णय किया कि अपनी ही तलवारसे मैं अपना सिर उड़ा दूं। अब जीनेका क्या काम है ? तब मुनिराजने कहा कि हे श्रेणिक ! तुम क्यों आत्मघातका विचार कर रहे हो ? श्रेणिकने सोचा—ओह ! यह तो हमारे मनकी भी बात जान गए। इतना विशिष्ट ज्ञान है। और अधिक प्रभाव पड़ा, उस समय जो पछतावा किया तो समझिये कि उपसर्ग किया, उससे तो ७वें नरकका बंध हुआ था और अब जो निर्मल परिणाम हुआ पछतावा हुआ तो उसमें इतना विशुद्ध परिणाम हुआ कि पहले नरककी ही स्थिति रह गई। अब आप समझें कि शायद ८०-८४ हजार वर्षकी स्थिति रह गयी। ७वें नरककी ३३ सागरकी आयुके सामने ये हजार लाख वर्ष क्या गिनती रखते हैं ? कितना बड़ा सागर होता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है, उसको उपमामें आचार्यने बताया है। गणना तो हो ही नहीं सकती थी। कल्पना करो कि दो हजार कोशका लम्बा, चौड़ा, गहरा कोई गड्ढा हो और उसमें कोमल बालोंके छोटे-छोटे टुकड़े, जिनका दूसरा टुकड़ा न हो सके, उन्हें खूब दबाकर भर दिया जाय और उस पर हाथी चलवा दिया जाय ऐसा ठोस भरा जाय, फिर प्रत्येक १०० वर्ष बाद एक बाल निकाला जाय, यों जितने वर्षोंमें वे सब बालके टुकड़े निकल आयें उतने समयका नाम है व्यवहारपल्य। व्यवहारपल्यसे असंख्यातगुणे कालके होते हैं उद्धारपल्य और उससे असंख्यात गुणे कालके होते हैं, अद्धापल्य। एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा करके जो आवे उसका नाम है एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य ऐसे ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर होता है, ऐसे ऐसी ३३ सागरकी आयु बंधी थी श्रेणिक राजाकी, लेकिन गुरुभक्ति के प्रसादसे, गुरुके गुणोंमें तीव्र अनुराग होनेके प्रसादसे सारी स्थिति कम हो गई, केवल कुछ ही हजार वर्षकी स्थिति रह गई, आप सोचिये कि मुनि समता के पुंज होते हैं।

सामायिकव्रतकी शिक्षाव्रतरूपता—सामायिक व्रतमें समताकी शिक्षा मिलती है इसलिए सामायिक व्रत का नाम शिक्षाव्रतमें रखा गया है। रागद्वेषका त्याग होनेसे समस्त इष्ट और अनिष्ट समताभावोंको अंगीकार करके सामायिक करना चाहिए। यह सामायिक आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूल कारण है। सामायिकके प्रयत्नसे यह गृहस्थ आत्मतत्त्वका अनुभव कर सकता है। सामायिकमें प्रथम तो चारों दिशावोंके पूज्य पुरुषोंको नमस्कार किया गया, फिर बैठकर परमेष्ठीका स्मरण करना, बारह भावनाओंका चिंतन करना और कुछ समय ऐसा भी बिताना कि सर्वचिंतन रोककर परमविश्रामसे रहना। ऐसी सामायिक की क्रियामें आत्मतत्त्वके अनुभवका अवसर मिलता है। समता परि-परिणाम जागृत होता है, ऐसा सामायिक नामक शिक्षाव्रत गृहस्थको अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए नियमसे पालन करना चाहिए।

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्॥१४९॥

सामायिककी बहूपयोगिता—रातके और दिनके अन्तमें एकाग्रतापूर्वक सामायिक अवश्य करना चाहिए। फिर यदि अन्य समयमें भी किया जाय तो वह भी गुणके लिए है। गृहस्थोंको सामायिक कमसे कम दो बार तो अवश्य करना चाहिए। वैसे तो सामायिक सदा की जाय, प्रभुका नाम जपना, अपने आत्माका चिन्तन करना, तत्त्वका चिन्तन करना, यह तो जब चाहे कितनी ही बार करे, वह लाभके लिए है। पर अधिक न बन सके तो कमसे कम दो समय सुबह और शाम अवश्य सामायिक करना चाहिए। सामायिकके लिए एक तो योग्य क्षेत्र देखे, जगह प्रासुक, पवित्र, जंतुरहित हो, स्थान एकान्तका हो। जहाँ अन्य अज्ञानी जनोंका संचार न हो, दूसरे योग्य काल होना चाहिए। सामायिकका समय सूर्यास्तके बाद और सूर्योदयके पहिलेका है, उस समयका ध्यान बहुत उत्तम होता है। गृहस्थजन ऐसा विचारते हैं कि जब नहायेंगे, मंदिर जायेंगे तब जाप देंगे, मगर तबका काम वह नहीं है। ध्यानका समय तो प्रातःकाल है। पहिले सुबह उठकर दूसरा कोई काम ही नहीं है। घरका यदि विशेष कार्य हो तो उसको करके पहिले नहाना, सामायिक करना, मंदिर पूजन करना यह सबसे पहिला काम है और यात्राका यही लाभ है, उससे यह सीखें कि यात्रा को लोग ५ सालमें महीना भरको निकले, फिर न खबर लें सामायिककी, स्वाध्यायकी, धर्मनियमकी तो वह तो उत्तम बात नहीं है। घर पर बारहों महीने सुबह शाम धर्मध्यानका विचार जरूर रखना चाहिए और फिर मान लो कई काम घरके अन्दर हैं तो उसका हिसाब लगा लेना चाहिए कि कि इतना समय तो हम धर्मध्यानमें लगायेंगे, इतना समय घरके कामोंमें लगायेंगे, पर सामायिकका जो समय है वह उसी समयमें होना चाहिए। योग्य आसन होना चाहिए। बैठें तो पद्मासनसे बैठें, कायोत्सर्ग से बैठें, क्योंकि सामायिकमें मन, वचन, काय इन तीनोंको स्थिर करना पड़ता है। तो सबसे पहिले कायाकी स्थिरताकी बात कही है। काया स्थिर करें, फिर इसके बाद वचन स्थिर करें मायने खराब बोलना बन्द करें, भीतरमें जो एक जल्प उत्पन्न होता है उसे बन्द करें और मनको स्थिर

करें, मन यहाँ वहाँ न दौड़ायें, विकल्प न करें, अपना मन अपनेमें सावधान रहे, योग्य विनय करें, विनय से बैठें, विनय से नमस्कार करें। जब प्रभुका ध्यान करें, परमेष्ठियोंका ध्यान करें तो उनके प्रति बहुत बड़ा भारी विनय भाव रखें। भक्ति पूजाकी शोभा तो विनयसे होती है। योग्य विनय होना चाहिए। मन, वचन, काय शुद्ध हो, मनकी शुद्धि है किसी भी चीजका बुरा न विचारना, सबका भला सोचना, सभी जीव सुखी हों, किसी जीवको मेरे द्वारा पीड़ा न हो और प्रयत्न भी यही करें कि जिसमें जीवका हित हो। वचन शुद्ध रखें, वचन बोलें तो ऐसे विनयपूर्वक बोलें, हित मित, प्रिय बोलें कि दूसरोंको सुखसाता हो और कल्याणका उन्हें मार्ग मिले। काया शुद्ध होनी चाहिए। कायाकी शुद्धि स्नानसे भी है और जितना बाह्य आडम्बरोंसे दूर रहें, निर्लेप रहें उतना ही कायाकी शुद्धि है। विशेष सम्पर्क न रखें सो काया शुद्ध है, यह अनुकूल बात रखकर सामायिक करें। सामायिकमें अगर इतनी बातोंका ध्यान नहीं रखा जाता तो परिणाम निर्मल और निश्चल नहीं हो सकते।

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य ॥१५०॥

सामायिकस्थ पुरुषोंमें महाव्रतत्वका दिग्दर्शन – सामायिक दशाको प्राप्त हुए श्रावकके चारित्र मोहका उदय होने पर भी समस्त पाप योगके परिहारसे महाव्रत होता है, याने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—इन पांचों पापोंका सर्वदेश त्याग होना सो महाव्रत है। गृहस्थ जिस समय सामायिक कर रहा है उस समय उसकी दृष्टि आत्मस्वभाव पर, परमात्मतत्त्वपर, कारणसमयसार पर जा रही है, कहीं ममता और अहंकार नहीं हो रहा, तो ऐसे जब अपने आपके समताके पुञ्ज ज्ञानस्वभावपर दृष्टि टिकती है तो उस समय पाप कैसे हों ? जब राग द्वेष पर दृष्टि है, कारणसमयसार पर दृष्टि है तो उसके पाप नहीं होता। तो सामायिक करते समय वह गृहस्थ भी मुनियोंकी तरह है। अगर सामायिक विधिपूर्वक ढंगसे हो जाय तो वह भी उपचारसे महाव्रती है। यद्यपि उसके प्रत्याख्यानावरण चारित्रका उदय है जिसकी वजहसे महाव्रती नहीं हो सकता, सो महाव्रती यथार्थमें नहीं है क्योंकि अभी महाव्रतका आवरण करने वाली कषायें बनीं हैं लेकिन जिस समय वह सामायिक कर रहा है और उसका उपयोग अपने आत्माके स्वभावमें पड़ा हुआ है तब तक समस्त पापोंका उसके परिहार हो गया, लेकिन अच्छा आसन मांडकर योग्यकालमें सामायिकमें बैठा है, अपने आपके अंतस्तत्त्वपर दृष्टि है उस समय वह महाव्रती है ऐसा आचार्यदेव कह रहे हैं। इसी सामायिकके बलसे निर्ग्रन्थ लिङ्गधारी ग्यारह अङ्गके पाठी भी हैं, यद्यपि वे अभव्य हैं फिर भी अहमिन्द्र पदतक सामायिकके बलसे प्राप्त करते हैं और जो भव्य हैं वे मुनिव्रत धारकर सच्चे मायनेमें अपने स्वभावकी आराधना करके मुक्त हो जाते हैं। मतलब यह है कि सामायिक करना बहुत जरूरी चीज है जिससे दृष्टि अपने स्वभावपर जाय और इस प्रकारकी भावना बने कि मैं सबसे निराला, घरसे, देहसे, संकल्पविकल्पसे न्यारा ज्ञानमात्र हूं। इसकी भावनासे आत्माका लाभ है।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतनामक पञ्चम शीलका वर्णन—प्रतिदिन अंगीकार किए हुए सामायिकरूप व्रतका स्थिर करनेके लिए अष्टमी और चतुर्दशीके दिन १४६ उपवास रखनेका अभ्यास भी करना चाहिए। यह श्रावकोंके बारह व्रतोंका वर्णन है। चार शिक्षाव्रतोंमें पहिला सामायिक व्रत शिक्षाव्रत है, उसका वर्णन किया। अब दूसरा प्रोषधोपवास व्रत है। इसमें अपने परिणामोंकी विशेष निर्मलता करने के लिए, सामायिकका संस्कार बढ़ानेके लिए उपवास करना चाहिए। उपवासका प्रयोजन बताया है समतापरिणाम बढ़ानेके लिए करना चाहिए। अन्दरमें रागद्वेषके परिणाम न जगें, उनके स्थिर करनेके लिए अष्टमी और चतुर्दशीका उपवास करना चाहिए। उपवास करने की सामर्थ्य नहीं है और चूंकि नियम लिए हुए हैं उपवासका, इसलिए उपवास करना पड़ता है, ऐसा किसीका भाव

है तो समझो कि उसका उपवास उपवास नहीं है। उपवास किया जाता है कषायें दूर करनेके लिए व अपने स्वरूपमें लीन होनेके लिए। तो अष्टमी और चतुर्दशी ये अनादिनिधन पर्व हैं और बाकी पर्व जैसे रविव्रत, सुगंधदशमीव्रत वगैरह तो कभी किसी कारणसे बने हैं मगर अष्टमी और चतुर्दशीके पर्व अनादिनिधन हैं। ये कभी नहीं बनाये गए, अनादिकालसे चले आ रहे है। अष्टान्हिकापर्वके ८ दिनोंमें नन्दीश्वर द्वीप देवगण जाते हैं और पूजन बन्दन करते हैं, तो ये आठैं चौदसकी परम्परा अनादिकालसे है, क्योंकि मोक्षमार्ग भी अनादिसे चल रहा है। श्रावकाचार, मुनियोंका आचार भी अनादिसे चल रहा है। वे पंचममहाव्रतोंका पालन करें, आठैं चौदसका उपवास करें, सामायिकके संस्कार को स्थिर करें इसके लिए उपवास करना चाहिये।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

प्रोषधसमयमें आरम्भत्यागपूर्वक उपवास ग्रहण करनेका उपदेश – समस्त आरम्भोंसे मुक्त होकर शरीर आदिकमें आत्मबुद्धिको त्यागकर उपवासके दिनके एक दिन पहिले मध्यान्हमें उपवास अंगीकार करें। मतलब यह है कि सप्तमीको दोपहर में आहार करनेके बाद उ वासका नियम लेना चाहिए और उपवासके समय समस्त आरम्भोंको छोड़ दें, अब जैसे घर गृहस्थीके काम रोज रोज करते हैं तो ८ दिनमें एक दिन घरके काम छोड़कर धर्म-ध्यानमें रहना चाहिए, इसलिए आठैं चौदसमें उपवास बताया है और शरीरका ममत्व तजकर उपवास करना चाहिए। असली चीज तो शरीरमें ममत्व त्यागनेकी बात है। जहाँ शरीरमें ममता है वहाँ धर्म रच भी नहीं लगता क्योंकि ममतामें एक बड़ा अज्ञान बसा है। जब शरीरसे ममता तजे तब धर्म शुरू होता है। शरीरसे निराला ज्ञान मात्र मैं हूं ऐसी सुध लें तो धर्मपालन वहाँसे शुरू होता है। सो आरम्भ छोड़कर देहमें ममताका त्याग करें फिर उपवासके पहिले दिन याने सप्तमी और त्रयोदशी के दिन मध्यान्हमें उपवासका नियम करना चाहिए। उपवासके मायने खाली आहार का त्याग नहीं है। विषय कषाय आरम्भ व्यापार आदिकमें सब प्रकारकी प्रवृत्तियोंका परित्याग होता है वह उपवास कहलाता है। उपवासका अर्थ है—उप मायने समीप और वास मायने बसना, केवल अपने आत्माके निकट बैठना इसका नाम है उपवास। कोई आहारका तो त्याग कर दे और आत्मामें संक्लेश मच रहा है वह तो उपवास न कहलायेगा। वहाँ तो विषय कषाय और आहार तीनोंका त्याग हो तो वह उपवास कहलाता है। हाँ, उस लंघन करने से एक यह फायदा होता है कि स्वास्थ्य ठीक हो जाता है पर मोक्षमार्गकी बात उससे नहीं बनती।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

उपवासी पुरुषको विविक्तवसतिमें इन्द्रियार्थविरक्त होकर त्रिगुप्तिसाधनमें रहनेका उपदेश—फिर करें क्या उपवास करने वाले? निर्जन बस्तीमें जायें। जहाँ एकान्त स्थान हो, नगरसे बाहर धर्मात्मा लोगोंके ठहरनेके लिए जो स्थान बना हो वहाँ जायें, घरमें न रहें। घरमें रहकर परिणाम उज्ज्वल नहीं बनते, घरमें रहकर चिंताएँ अवश्य होती हैं। तो उस दिन अपना घर त्यागकर किसी निर्जन स्थानमें रहें। चौबीस घंटेकी बात है। जो चौबीस घंटेको घर त्याग दे तो उसका उपवास सच्चा है। जैसे दशलक्षणीके दिनोंमें जब उपवास करते हैं तो उपवास के समय घरको छोड़ दें ऐसा बहुतसे लोग करते भी हैं। किसी मित्रके पास या धर्मशालामें या किसी दूसरे स्थानमें उसे शयन करना चाहिए। तो सब योगोंका परिहार करके, सब इन्द्रियके विषयोंसे विरक्त होकर अपने मन वचन काय को संयत करते, अथात् मनसे किसी का संकल्प न करें, वचनसे कुछ न बोलें, और अपने शरीरको स्थिर करलें तो ऐसी स्थिति धर्मध्यानकी है। यही उत्तम उपवास करनेकी विधि है। घरमें रहकर तो उपवासकी विधि नहीं बनती। गृह आरम्भ त्यागकर उपवास करना यह भी काम है। सामायिक दो बार बताया है—सुबह और शाम। दिनभरकी भूलकी क्षमा शामकी सामायिकमें मांग लो और रातभर की भूलकी क्षमा सुबहकी सामायिकमें मांग लो। यों बारह-

http://sahjanandvarnishastra.org/

बारह घंटे बाद अपने आत्माकी सुध बनाये तो उसमें और दृढ़तासे सुध बनती है। इसके बाद श्रावकोंको पाक्षिक प्रतिक्रमण बताया है। १५ दिनके बाद एक दिन सारे १५ दिनके दोषों को विचार करके फिर उनका परिहार करें, इस तरहसे फिर चार महीने बाद बताया। फिर चार महीने के सारे अपराधोंको विचार कर उनका प्रायश्चित्त करना, फिर बारह महीने का एक वर्षमें इकट्ठा प्रायश्चित्त करना, फिर जिन्दगी भरमें जब अन्तमें मरण समय आये तो मरण समय पर फिर वह सारी जिन्दगी भरका प्रायश्चित्त करे तो कितनी बार उसने अपने अपराधोंको शुद्ध किया? और अपराध दूर हुए तो आत्माकी उन्नति है और जब तक जीवमें अपराध लगे हैं तब तक संसारमें भटकना है। तो ऐसा पुरुषार्थ करें कि कर्म दूर हो सकें।

आत्मोद्धरार्थ भावना—मेरा आत्मा सबसे निराला चिदानन्दमात्र अकेला है, ऐसा ही विश्वास बनायें, ऐसा ही ज्ञान बनाएं और ऐसे ही अपने आपमें स्थिर होनेका प्रयत्न करें तो यह हुआ उसका सम्यक्चारित्र। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता होती है तो जीवको मुक्ति प्राप्त होती है। जब इसके विपरीत चलता रहे, देहको मानता रहे कि मैं आत्मा हूं, परिजनोंसे ही ममता करने में अपना हित समझ रहा है, उनमें ही रम रहा है, विषय कषायोंमें अपना उपयोग बसाये रहता है तो समझिये कि वह संसारमें जन्म मरण करता रहेगा। तो जिसे अपना उद्धार करना हो उसे चाहिए कि हिम्मत करके अपने आत्मामें अपने उपयोगको लगाये, ममताका परित्याग करे, सर्व कुछ इस संसारमें विनश्वर, अहितकर एवं असार दीखे। इस संसारमें सारकी चीज कोई नहीं है। देखो बाहुबलि स्वामीने सबको जीत लिया था, चक्रवर्ती तकको जीत लिया था, फिर भी इस लक्ष्मीको असार जानकर उसका परित्याग किया था। जब बड़े बड़े तीर्थंकरोंने इस विभूतिको त्यागकर, अपने आत्मामें रमकर अपना कल्याण किया तो हम और आपका क्या यह कर्तव्य है कि घरमें ही घुसे रहें, घरमें ही रहकर मरण करें? अरे घरका मरण तो अच्छा नहीं। नाती, पोते सभी पासमें आ जाते हैं तो उस मरने वालेका चित्त उनकी ओर लग जाता है, उसके परिणाम खराब हो जाते हैं। मरण समय परिणाम खराब होनेसे सारी जिन्दगीकी की हुई सभी धार्मिक वृत्तियां व्यर्थ हो जाती हैं। अगर मरण समयमें परिणाम सुधरे तो भव भवके लिए सुधार हो जाता है और यदि मरण समयमें परिणाम बिगड़े तो संसारमें आवागमन का कष्ट भोगना पड़ता है।

समताकी उपलब्धिके लिए प्रोषधोपवास करनेका अनुरोध—श्रावकाचारमें यह प्रकरण चल रहा है कि भाई सुबह शाम सामायिक करना चाहिए। समय गुजरता जा रहा है, जो समय गुजर गया वह पुनः वापिस नहीं आता सो शाम सुबह निश्चित समयपर सामायिक तो करना ही चाहिए और सामायिककी वृद्धिके लिये, रागद्वेषादिक न आने पायें, इसके लिए उपवास करना चाहिए, उपवास करके अपने परिणामों की शुद्धि करनी चाहिए। ढूंढ़-ढूंढ़ कर रागद्वेषादिकको हटायें, अपने दिलमें किसी प्रकारका क्लेश न रहे ऐसा अपना प्रयत्न करें तो उस प्रयत्नसे अपने परिणामोंकी निर्मलता जगती है, तो अपने परिणाम निर्मल बनानेके लिए उपवास करना बताया है और उपवास भी एकान्तस्थानमें जाकर, गुरुवोंके निकट जाकर तत्त्वचर्चामें समय लगाकर उपवास करना चाहिए। जिससे अपना परिणाम निर्मल हो, आत्मानुभव जगे, ऐसे आत्मानुभवकी साधनाके लिए श्रावकाचारमें इस सामायिकका वर्णन किया और सामायिक के बाद प्रोषधोपवासका वर्णन करते हैं। प्रोषधोपवासमें त्रयोदशीको नियम लेकर चतुर्दशीमें उपवास किया और सप्तमीको नियम लेकर अष्टमी को उपवास किया। यह शिक्षाव्रत है। इस शिक्षाव्रतमें मुनियोंकी शिक्षा दी जाती है। मुनि क्या करते हैं? वे रोज रोज उपवास करते हैं, उनका चौबीस घंटेका उपवास हो जाता है। तो २४ घंटेका उपवास यह गृहस्थ सीख रहा है। आठ दिनमें एक बार सप्तमी और त्रयोदशीको नियम लेकर २४ घंटेका उपवास करके सीख रहा है। यदि शक्ति न हो तो अष्टमी चतुर्दशीको जल ले ले और भी कम शक्ति हो तो दो एक रसके साथ भोजन लेता है। त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूनोको इसी तरहका उपवास करले तो ये तीन दिन उपवासके हो गए। इससे मुनियोंकी शिक्षा मिलती है, इसलिए इसे मुनिव्रत तुल्य कहा है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ।।१५४।।

समताकी वृद्धिके लिये प्रोषधोपवासका विधान—श्रावकके बारह व्रतोंमें चार शिक्षाव्रत हैं—सामायिक प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग। शिक्षा व्रत उसे कहते हैं जिससे मुनि व्रतकी शिक्षा मिले। तो हमें इसका स्वरूप इस पद्धतिसे जानना चाहिए कि इस व्रतसे हमें मुनिधर्मकी शिक्षा मिलती है। सामायिक में तो स्पष्ट है समताका परिणाम। मुनि समताके पुञ्ज होते हैं। तो हम अहर्निश समता नहीं धारण कर सकते हैं इसलिए तीन समय हमारे लिए सामायिकके बताये गए हैं और वह सामायिक ६—६ घंटे बाद बताया है। जैसे कि प्रायः सुबहके कालमें ६ बजे, दोपहरको १२ बजे और शामको फिर ६ बजे। मुनियोंके तो निरन्तर सामायिक रहती है पर गृहस्थोंको ६—६ घंटे बाद तीन बार सामायिक बतलायी है। सामायिकमें मुनिशिक्षा तो है ही, पर प्रोषधोपवासमें मुनि शिक्षा रखना हो तो प्रोषधोपवास इस विधिसे करें कि सप्तमीको प्रथम वेलामें आहार लेकर फिर नवमी को सिर्फ एक बार आहार लें। इस पद्धतिमें ३ दिन मुनि जैसी आहार वेला हो गई। जैसे लोग कहने लगते कि सप्तमीकी शामको खाये, अष्टमीको न खाये तो यह उपवास हो जायेगा, पर शिक्षाव्रत न होगा। उसका कारण यह है कि मुनिजन प्रतिदिन एक बार ही आहार लेते हैं। एक बार आहार लेवें, शामको पानी न लें इस तरह लें तो शिक्षाव्रत हैं। सप्तमीको दोपहरके भोजनके बाद त्याग कर दें, अष्टमीको चाहे भोजन ले लें पर शामको न लें, नौमी की शामको न लें तो भी शिक्षाव्रत है मगर ७वीं ९वीं के शामको व्रत ले लें तो उपवास रहेगा। तो प्रोषधोपवासमें लक्ष्य यह बताया है कि जो सामायिक व्रत अङ्गीकार किया है वह समताका संस्कार बढ़ानेके लिए है और उसे घरमें उस समय न रहना चाहिए। जबसे उसने आहारका त्याग किया तबसे उसने घर छोड़ा। मंदिरमें अथवा कहीं भी एकान्तमें रहें तो जो आश्रयभूत साधन हैं रागद्वेषके वे उसने हटायें, एक तो वह कारण हुआ जिससे उसे समताकी स्थिति मिल गई। दूसरे आरम्भ और व्यापारका भी त्याग किया तो उससे भी उसे समतामें सहायता मिली और फिर कुछ अनशनोंमें व्रतोंमें ऐसा प्रभाव है कि ज्ञानदृष्टि हो किसीके तो उसे समतामें सहायता मिलती है। खाली शरीरको आहार न देना इतने पर ही दृष्टि हो तो वह समता नहीं कर सकता, उसे तो नाना विकल्प उत्पन्न हो जायेंगे।

दृष्टिका शरण्यभूत विषय—मनुष्यका लक्ष्य होना चाहिए उस स्वभावका जो स्वभाव स्वयं साम्यरस से भरा है। आत्मामें जो एक स्वभाव है, प्रत्येक पदार्थमें एक स्वभाव होता है। तो आत्मामें जो एक स्वभाव है उसे हम चैतन्यस्वभावसे जानें। चैतन्यस्वभाव स्वयं समता रससे भरपूर है, उस स्वरूप सत्में विकार नहीं है। चैतन्यमें विकार उत्पन्न होते हैं तो परप्रकृतिका निमित्त पाकर अपनी ही योग्यतासे, अपनी कमजोरीसे होते हैं। विकार निमित्त चीज है, अगर निमित्त चीज न हो तो सदाकाल विकार आत्मामें रहना चाहिए। निमित्त है तभी तो उस विकारका विनाश होता है। अब इस प्रसंगमें विशेष बात जाननेकी है कि लोग हर बातमें निमित्तनैमित्तिक कह देते हैं, पर ये दो बातें हैं निमित्त और आश्रय। निमित्त केवल कर्मकी स्थिति है, अन्य पदार्थ निमित्त नहीं कहलाते। हमारे राग द्वेषादिक भावके होनेमें ये पदार्थ निमित्त नहीं कहलाते, ये आश्रयभूत हैं और निमित्त है तो केवल कर्मकी परिस्थिति। कर्म दो प्रकारके हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म तो स्वयं विकार हैं। वे भावकर्म कैसे उत्पन्न होते हैं? तो निमित्तभूत कर्मका उदय पानेपर आत्मामें चूंकि ऐसी योग्यता है तो यह विभावपरिणमनको परिणमाने वाले पदार्थ की ऐसी कला है कि निमित्त पाकरके विभावरूप परिणम जाय। जैसे हम आप लोग यहाँ बैठे हैं तो आश्रय तो यह पृथ्वी है मगर इस पृथ्वीकी कला नहीं है जो हम यहाँ बैठे हैं। वह केवल निमित्तमात्र है। यह हम आपकी कला है जो अपनी शक्तिसे इस रूप बैठ गए हैं। तो यह परिणमने वालेकी कला है कि निमित्तका सन्निधान पाकर विभावरूप परिणम जाता है। आश्रयने अथवा निमित्तने परद्रव्योंमें कुछ किया नहीं, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सबका अपना

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपना अलग-अलग है। आत्माका चतुष्टय आत्मामें है, पुद्गलका चतुष्टय पुद्गलमें है। सो आत्मामें शाश्वत परमार्थ तत्त्व की दृष्टि करना चाहिये।

ज्ञानीकी अन्तस्तत्त्वस्पर्शोन्मुखी उद्भावना—ज्ञानी पुरुष यद्यपि सब जान गया है—ज्ञानका काम है जान लेना। निमित्तका क्या योग है? उपादानका क्या योग है, यह सब समझ गया। सब कुछ समझ कर भी जो रागद्वेष होते हैं हम आपके ये कुछ काल तक श्रेणीमें भी चलते हैं तो इस प्रसंगमें कुछ ऐसी भी अपने को दृष्टि लगानी चाहिए थोड़ासा भाव बनाकर कि जिस क्षण पदार्थमें उनका कुछ ज्ञान नहीं है लेकिन निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बराबर है। जैसे अग्निका निमित्त पाकर जल गर्म हो गया तो न अग्निको खबर है, न जलको। दोनों ही एकेन्द्रिय हैं यह बात अलग है मगर ऐसा ज्ञान जल नहीं कर रहा कि मैं अग्निके पास हूं, मुझे गर्म हो जाना चाहिए और न अग्निको यह ज्ञान है कि जल मेरे निकट आ गया है, मुझे इसको गरम करना चाहिए। तो जैसे जड़ पदार्थमें परम्परका निमित्तनैमित्तिक भाव होता रहता है इसी प्रकार आत्मामें ज्ञानगुणका तो विकार होता नहीं है। विकार होता है तो जो चेतन गुण नहीं हैं उनमें होता है। एक दृष्टि है, तो आत्मामें जो विकार हुआ है, चारित्र गुणमें विकार हुआ है, श्रद्धागुणमें विकार हुआ है, दोनों गुणोंमें विकार होता है। जो अज्ञानी जीव है उसके श्रद्धागुणमें भी विकार है और जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसकी श्रद्धामें विकार नहीं है पर चारित्रगुणमें विकार चलता रहता है। अब सोचिये जैसे जड़ पदार्थोंमें परस्परमें निमित्तनैमित्तिक भाव है, क्योंकि वह अपने में चेतनेका काम नहीं रखता है, इसी प्रकारसे रागद्वेष जिस शक्तिसे उठा है वह शक्ति चेतनेका काम नहीं करती। उसे समझ लीजिए भाव दृष्टिमें कि वह गुण जड़ है। जैसे अकलंक देवने कहा है कि आत्मा चैतन्य चेतनात्मक है, प्रमेयत्वकी दृष्टिसे अचेतन है और ज्ञानकी दृष्टिसे चेतन है तो एक ही आत्मामें भेदविवक्षा करके चेतन और अचेतन गुणको देखने लगिये तो रागद्वेष जिस शक्तिसे उठते हैं वे अचेतन हैं, चेतनेका काम नहीं करते। तो जो चेतनेका काम नहीं करते ऐसे गुण और प्रकृतिका उदय इन दोनोंका ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चल रहा है, उसमें ज्ञान क्या करना, ज्ञान तो जान रहा है और जानते हुए भी उस समय ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि रागद्वेषरूप भी परिणम रहा है, उसे बचा नहीं पाता और यह जीव रागद्वेषसे अपनेको बचा भी पाता है तो ज्ञान बलसे बचा पाता है। ज्ञानबलमें जो रागद्वेष रहित विशुद्धता है वह जब तक कम है तब तक जीव विवश है और विभावरूप परिणम जाता है। यों जब स्वभाव चतुष्टयसे निरखते हैं तो आत्माके जितने भी विभाव बने, यह आत्मा खुद ऐसा निमित्त पाकर आश्रय पाकर स्वयं विभावरूप परिणम जाता है, निमित्त नहीं परिणमता, विभाव रूप न अपनेसे कोई क्रिया निकलकर विभावरूप चलती है।

निमित्तनैमित्तिक योग्यव्यवस्था—निमित्तनैमित्तिक ऐसा योग है, हम हर जगह देखते हैं इसी कारण हमें निमित्तोंका ज्ञान है। जैसे रसोई बनाते हैं तो झट यह ज्ञान कर लेते हैं कि रोटी आटेसे बनेगी। कभी ऐसा तो नहीं सोचने लगते कि कहो आज आटे से न बनकर धूलसे बने। तो निमित्तका सन्निधान पाकर यह क्रिया हुई। हमें कैसे मालूम पड़े कि इस कार्यके न होनेमें यह निमित्त है ऐसा केवलसमझनेके लिए निमित्त कहा जाता है। जिस समय निमित्तके रहने पर भी कोई विभावरूप कार्य नहीं होता तो समझना चाहिये कि या तो परिणमने वालेकी योग्यतामें अन्तर है या समझना चाहिये कि अभी निमित्त कलापूर्ण नहीं उपस्थित हुआ। निमित्त होने पर भी, आग सामने रहने पर अगर पानी गर्म न हो तो सोचना चाहिये कि कोई प्रतिबन्ध पदार्थ सामने है या निमित्तभूत पदार्थ अपनी सही हालतमें नहीं है या जल इतना ठंडा हो गया कि उतना सन्निधान पाकर वह गर्म न हो सके। अगर निमित्त कलाप सही हालतमें हैं, प्रतिबन्धक कारणका अभाव है, उपादान भी उस योग्यता वाला है तो कार्य हो ही जाता है। प्रश्न यहां यह है कि निमित्तका सन्निधान या अग्निका सन्निधान पाकर भी यदि जल गरम न हो तो अग्निको निमित्त कहना चाहिये अथवा नहीं? उत्तर यह है कि वह अग्नि निमित्तभूत तो कहलायेगी पर निमित्त

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कलाप नहीं है यह कहा जायेगा। एक अंश है निमित्तका, पूरा योग नहीं मिला है इसलिये वहाँ कार्य नहीं हुआ और नहीं कार्य हुआ तो भी जलके गर्म होने के लिए अग्नि तो निमित्त हुआ ही करती है, पर जल की योग्यतामें कुछ अन्तर है इसलिये गर्म नहीं हुआ। निर्णयमें तो यह माना जायेगा अन्यथा लोग पानी गरम करना चाहें तो अग्निको फिर कैसे लायेंगे ? अगर उनकी बुद्धिमें यह न बसा हो कि अग्नि पानीके गर्म होनेमें निमित्त है तो उसे कैसे लायेंगे ? मालूम है इसलिये लाते हैं पर कार्य होनेमें ये तीन बातें जानना चाहिये—उपादान की योग्यता, प्रतिबन्धक का अभाव और निमित्तभूत पदार्थकी समूहता। जैसे आत्मामें रागद्वेषरूप कार्य हुआ तो प्रथम तो आत्मामें ऐसी योग्यता होनी चाहिए जो कि विभावरूप परिणम सके। जो आत्मा ऐसा नहीं है, जैसे साधुजन हैं तो प्रथम तो उनके निमित्त भी नहीं है, कर्मका उदय निमित्त होता है, प्रत्याख्यान कषायका उनके पापोपशम है, प्रथम तो निमित्त नहीं है, दूसरे—पावनमात्र निमित्त रह गया संज्वलकषाय संबन्धी तो चूंकि वे आश्रयसे दूर हैं और उन्होंने अपने उपयोग को विशुद्ध बनानेके लिए कुछ शुभ आश्रय लिया है, इस स्थितिमें उनके रागद्वेष नहीं होता है। तो उत्पादनकी योग्यता न हो तो रागद्वेष नहीं होते हैं। जिसमें रागद्वेष होनेकी योग्यता है उसके लिए कर्मोदय तो निमित्त है और शेष कर्मोंको छोड़कर जितने पदार्थ हैं वे सब आश्रय हैं। तो उन आश्रयोंको पाकर निमित्तके सन्निधानमें विभावरूप कार्य होता है। यह कार्य होने की पद्धति है। मुनि जनोंका जितना कषायका उदय है, अन्तरङ्ग निमित्त है, संज्वलन कषायका निमित्त पाकर उनके भी उसके अनुकूल कषाय उत्पन्न होती हैं पर उनके कषायोंमें मंदता आयी है। मुनिजनोंके कषायें तब जगती हैं जब शिष्य जन प्रतिकूल व्यवहार करते हैं। शिष्योंको शिक्षा दीक्षा आदिक देनेमें मुनिजनोंके कषायें जग सकती हैं तो यह निमित्तनैमित्तिक भाव भी एक अटल प्रक्रिया है, पर लोग निमित्तनैमित्तिक भाव को इस कारणसे नहीं सिद्ध करना चाहते कि अगर हम निमित्तनैमित्तिक भाव मान लेंगे तो वस्तुकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायेगी, लेकिन ऐसे प्रबल ज्ञान रखना चाहिए कि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी बराबर मानते रहे और वस्तुकी स्वतन्त्रता भी पूरी तौरसे दिखती रहे—ये दोनों बातें नजर आ सकें तो समझो कि हमने वस्तुरूपके बारेमें जानकारी की।

समता संस्कारवृद्धिके लिए व्रतोंका योग—इस प्रकरणमें समताका संस्कार बनानेके लिए ये व्रत बताये जा रहे हैं इसी प्रकार मुनियोंका भी व्रत समताका संस्कार बनाने के लिये हैं। कभी कोई पुरुष बाहरसे द्रव्यलिङ्ग धारण करले तो मुनिभेष धारण करने मात्रसे कर्म कहीं डरते नहीं कि इसने मुनि भेष लिया है, हमें बंधना न चाहिये। चूंकि उसके अन्तरङ्गमें विभावपरिणाम हैं सो कर्मबन्ध होगा ही। कषायें न होना यह योग्यतापर निर्भर है, भेष पर नहीं। यह बात बिल्कुल सत्य है कि मुनि भेष लेकर भी अगर अनन्तानुबन्धी कषायें उठ रही हैं तो वह मुनि पदके विरुद्ध बात नहीं है। धर्मपालनके लिए जिसने अपनी कमर कसी है और वास्तवमें वह अध्यात्मप्रेमी हुआ है तो उसे इस देहमें ममता है ही नहीं, फिर भी आहार आदिक आवश्यक हैं, तो उसके पुण्यका इतना उदय है कि उसे आहारका योग मिल ही जायेगा पर अध्यात्मप्रेमी साधु अपने आपमें कुछ चिन्ताएँ रखे इस सम्बन्धमें तो उस चिन्तासे तो उसका पुण्य रस घटा। अध्यात्मप्रेमी कहाँ रहा ? अगर कोई बड़ी दृढ़तासे अध्यात्मका प्रेमी हो जाय, कुछ फिकर न करे तो उसको योग मिल जाएगा। केवल अध्यात्म दृढ़ता है सो बात नहीं है, अध्यात्मसे प्रेम भी है, चिगता भी है तो ऐसी स्थितिमें, उसके विडम्बना है जिसे कि व्यवहारमें रत रहने वाला कहते हैं। वह दूसरों पर शासन करनेमें, उनकी व्यवस्था करनेमें ही अपना समय लगाता है, बल्कि संघमें रहने वाले अन्य साधुजन अपना नित्य-कर्म करते रहते हैं, उनको तो लाभ है पर वह उनकी व्यवस्था करनेमें ही लगा रहता है उसे कुछ लाभ नहीं मिल पाता है। यह मुनिव्रत तो बहुत बड़ी खड्गकी धार है। इसमें यदि समता भाव है तो वह मुनि है और नहीं है समता भाव तो वह मुनि नहीं है। मुनिजन ज्ञान साम्राज्यके पुञ्ज होते हैं, उनके किसीमें राग अथवा किसी में द्वेष नहीं होता है। कोई शिष्य बड़े संयमसे व स्नेहसे रहता हो और वह उससे अलग हो जाय तो भी उस साधुके बैरभाव

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं होता। किसीकी रागद्वेषयुक्त बातें सुननेका भी उसके चित्तमें चाव नहीं रहता। मुनिधर्म बहुत ऊंचा धर्म है, इसलिए इस मुनि धर्मको परमेष्ठियोंमें शामिल किया है। इस मुनिधर्ममें कितनी उत्कृष्टता होनी चाहिए सो समझ लीजिए। यदि इसके विरुद्ध आचरण है, श्रावकोंसे भी उसके अधिक कषायें जगें तो करणानुयोगमें बताया है कि ऐसा मुनि वास्तवमें मुनि नहीं है।

विभावानुत्पत्तिरूप अहिंसाकी सिद्धिके लिए व्रतोपयोग—विभाव परिणामोंका निमित्त होगा तो कर्मबन्ध हो जाएगा। विभाव परिणामभी जड़वत हैं और कर्म भी जड़वत् हैं, तो जड़ जड़का निमित्तनैमित्तिक अडोल रहता है। वहाँ सम्बन्ध होता ही है। तो विभाव परिणम जब उत्पन्न होता है तो कर्मबन्ध होता है इसलिए अपना यत्न होना चाहिये भेद विनका कि मुझमें रागद्वेष संस्कार न बढ़ें, अपने इस उपयोग का अधिकाधिक यत्न करना चाहिए क्योंकि रागद्वेष मोह हटनेमें ही अहिंसा है। जितने भी व्रतोंका पालन है वह अहिंसाकी सिद्धिके लिए है। अहिंसा कहो या समतापरिणाम कहो, दोनोंका एक ही भाव है। अपने आपकी अहिंसाकी सिद्धिके लिए सारे यम नियम हैं। उपदेश करना, उपदेश सुनना, चर्चा करना ये सभी कार्य इसलिए किए जाते हैं कि मेरा अपने ज्ञानस्वभावसे प्रेम हो, मेरेमें रागद्वेषादिक विकारोंकी उत्पत्ति न हो। हम अपने ज्ञानस्वभावको निरखेंगे तो रागद्वेषादिक विकार न होंगे। परपदार्थों में दृष्टि लगनेसे तो इष्ट अनिष्ट की बुद्धि होगी। दो भाई बैठे हैं अगर उनमें से एककी ओर अधिक आकर्षण होता है तो समझिये कि यहाँ रागद्वेषकी उत्पत्ति है। बस यहीं से ये रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। तो ये रागद्वेष न उत्पन्न हों, इसका मूल उपाय यह है कि हम अपने अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वरूपक आश्रय लें। मैं चिद्स्वरूप हूं। अपने स्वरूपकी दृष्टि न छोड़ें तो रागद्वेष न हों। रागद्वेष होते हैं परपदार्थों का आश्रय लेनेसे। जो अपने आपके स्वभावका आश्रय लेता है उसके संकट दूर होते हैं। जो अपने स्वभावका आश्रय न लेकर परपदार्थोंका आश्रय लेता है उसके रागद्वेष होते ही हैं।

आत्महितप्रेरणामें अनुयोगोंका सहयोग—विभावसे निवृत्त होनेके लिये चरणानुयोग भी बहुत साधक है। जिस-जिस आश्रयको लेकर रागद्वेष विभाव परिणाम अवश्य होते हैं उस उसका परिहार कर दिया जाय तो ये रागद्वेष दूर हो जायेंगे। यही इस चरणानुयोगका लक्ष्य है। द्रव्यानुयोगका यह लक्ष्य है कि आत्मतत्त्व व अनात्मतत्त्व का परिज्ञान करके अनात्मतत्त्वसे उपयोग हटाकर आत्मतत्त्वमें उपयोगको स्थिर करें। करणानुयोग वस्तुके स्वरूपका चिन्तन करानेका लक्ष्य करता है। देखिये जब हम जानते हैं कि यह लोक कितना बड़ा है? एक जम्बूद्वीप एक लाख योजनकी सूची वाला है, उसके पासका लवण समुद्र उससे दूना है, उसके बादका उससे दूना है, ऐसे ऐसे असंख्याते द्वीप समुद्र हैं। अब समझ लीजिए कि कितना बड़ा विस्तार हो गया? यह सब विस्तार अभी एक राजू भी नहीं पूरा हुआ, ऐसे ऐसे एक राजू लम्बे चौड़े मोटे विस्तारमें जितना घेरा बने उसे एक घन राजू कहते हैं। ऐसा ३४३ घन राजू प्रमाण लोक है। यों लोकके विस्तार पर जब हम दृष्टि देते हैं तो इसके अन्दर यह जीव उत्पन्न हो जाता है कि इतने बड़े लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ हम अनन्त बार जन्म मरण न कर चुके हों। तो इस छोटेसे क्षेत्रमें जहाँ हम आप जन्मे हैं वह क्या चीज है? ये सभी चीजें विघट जायेंगी, कितने दिनोंका यह समागम है? यह अवसर्पिणी काल है, इससे पहिले उत्सर्पिणी काल गुजर गया। ऐसे ऐसे अनन्त काल व्यतीत हो गये। अनन्तकालके सामने यह १००—५० वर्षका समय क्या कीमत रखता है? यहाँ जो भी समागम आज मिले हुए हैं वे क्या कीमत रखते हैं? तो उनसे रागभाव हटाना है। करणानुयोगके ज्ञानका लक्ष्य बताता है कि उन समागमों हमें कुछ भी लाभ नहीं मिलता है। जीव अनन्तानन्त हैं। जिनमें से अनन्त जीव मोक्ष चले गये हैं फिर भी यह सिद्धान्त है कि जितने मुक्त जीव हैं उनसे अनन्त गुने ससारी जीव हैं। इन अनन्त जीवोंमें से कोई दो चार जीव आज अपने परिवारमें आ गये हैं तो कौनसी बड़ी बात है? ये न आते और आते तो क्या यह न हो सकता था? तो इन जीवोंका किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं। यहाँ कोई किसीका नहीं लगता। यहाँ अपना बुद्धि फंसानेमें कुछ भी लाभ नहीं है। तो यों हमें सभी अनुयोगोंसे ज्ञान वैराग्यका शिक्षण लेना चाहिए। यह प्रोषधोपवास अणुव्रती श्रावकका प्रकरण है। प्रोषधोपवासी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

श्रावकको सुबह शाम और दोपहर तीन बार सामायिक करना चाहिये, पठन पाठनमें व एकान्तस्थानमें बैठकर धर्मसाधन करनेमें अधिक समय लगाना चाहिये। इससे हम आप भी यह शिक्षा लें कि ऐसे ही आचरणको हम आप अपनावें तो अपनेको कल्याणका मार्ग मिलेगा।

प्रात: प्रोत्थाय तत: कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्राशुकैर्द्रव्यैं ॥१५५॥

प्रोषधोपवासमें धर्मपालनका सहयोगी विधान—प्रोषधोपवास करने वाले श्रावक किस तरहसे धर्मपालनमें अपना समय बितायें, यह वर्णन चल रहा है। सप्तमीके दिन आहार करके उपवासका नियम लेवे और नवमी के दिन दोपहरसे पहिले तक का नियम लें और नवमीको शामको भी कुछ न लेना यह तो है उनका उत्कृष्ट उपवास का समय। अब उस समयमें अपना घर छोड़कर, आरम्भ परिग्रह छोड़कर एकान्त स्थानमें जिन-मन्दिरमें या किसी बस्तीमें बसतिकामें किसी साधु संगमें रहे और धर्मध्यानमें अपना समय व्यतीत करे। सामायिकके कालमें सामायिक करे, इस प्रकार पहिली रात्रि व्यतीत की, अब उसके उपरान्त प्रभातकालमें उठकर प्रभातकाल की क्रियावोंको करके प्रासुक द्रव्योंसे जैसा शास्त्रोक्त विधान है जिनेश्वर देवकी पूजा करे। यद्यपि प्रोषधोपवासमें सब आरम्भ छोड़ दिया था लेकिन पूजाके आरम्भका त्याग इस लिये नहीं है कि पूजाके परिणामोंका पुण्य इतना अधिक है कि उसके प्रकरणमें आरम्भजनित साधारण-सा पाप गिनतीमें नहीं है। पूजाके आरम्भमें कोई त्रस हिंसाकी बात है नहीं, जल लाना, प्रासुक करना और प्रासुक द्रव्य सजाना तो यह कोई आरम्भ गिनतीमें नहीं रहा, अतएव प्रोषधोपवासमें श्रावकको पूजा करने का विधान है और पूजाके लिये स्नान करनेका भी विधान है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जिनेश्वर देव की पूजामें द्रव्य प्रासुक हो, सचित्त न हो, फल फूल पत्ती ये न होने चाहिये। क्योंकि उनमें अनन्त स्थावर जीव रह सकते हैं। असंख्यात तो रहते ही हैं, जो फल भक्ष्य हैं उनमें भी असंख्यात जीव हैं। कदाचित् कोई छोटे फल हों, उनमें अनन्तकाय भी सम्भव है। तो सचित्तद्रव्यसे भगवानकी पूजा न करनी चाहिए। यह पहिले दिनका कार्य बताया गया, अब इसके बाद क्या करें?

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयारात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

इसी विधिसे जैसे कि सप्तमीके दिन किया, दूसरे दिन और दूसरी रात्रि भी धर्मध्यानमें व्यतीत करे, सामायिकके अतिरिक्त शेष समयमें स्वाध्याय करना चाहिये, कुछ श्रमको दूर करनेके लिये अल्प निद्रा ऐसी चर्यासे दूसरा दिन व्यतीत करे और रात्रि भी ऐसे धर्मध्यानमें व्यतीत करे और तीसरे दिन का आधा समय समझ लीजिये एक प्रहर, वह बड़े प्रयत्नसे यत्नाचारपूर्वक व्यतीत करे। उपवासके पहिले दिनका जो आधा समय था अर्थात् उपवासकी प्रतिज्ञा ली सप्तमीको उस दोपहरके बादका जो आधा दिन है जैसे कि दिन धर्म ध्यानमें व्यतीत करे ऐसे ही उपवासके दिन याने अष्टमीका भी पूरा दिन धर्मध्यान में व्यतीत करे और उपवासकी रात्रिमें भी धर्मध्यान अपना बनाये रहे, फिर उपवासके दूसरे दिन दोपहर पर्यन्त समयको धर्मध्यानमें व्यतीत करे, इसके बाद फिर भोजन सामग्री जुटावे व भोजन करे। उसके पश्चात् गृह सम्बन्धी कुछ अल्प आरम्भ आदिक तो कर सकता है पर चूंकि यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है, इससे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती है, सो नवमीके दिन भी शामको भोजन ग्रहण न करे तो मुनिव्रतकी शिक्षा मिल गई। उपवासके बाद भोजन करने पर क्या परिस्थितियां होती हैं? मुनिजनोंका उनका अनुभव और उन परिस्थितियों को सहनेकी समता यह शिक्षा मिलती है इसलिये श्रावकके प्रोषधोपवासमें ३ दिन शामको आहार जलका निषेध है।

इति य: षोडशयामान् गमयति परिमुक्त सकलसावद्य:।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसा व्रतं भवति ॥१५७॥

षोडशयाम प्रोषधोपवासीके अहिंसाव्रतका वर्णन—इस प्रकार जो जीव समस्त पाप क्रियावोंको छोड़

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर १६ प्रहर धर्मध्यानमें व्यतीत करता है उस पुरुषके उतने समय तक तो सम्पूर्ण अहिंसा व्रत है, आरम्भ का त्याग कर दिया, परिग्रहसे चित्त हटा दिया, एकान्तमें बस रहा है, तो उसके ये १६ प्रहर अहिंसाव्रत ही रहा। कोई उसने ऐसा विकल्प नहीं बनाया जो पाप क्रियाके हों, दूसरेके नुकसान पहुंचाने वाले हों या आरम्भके हों, किसी भी प्रकारके विकल्प नहीं रक्खे अतएव उसके अहिंसाव्रत है। जितने भी व्रत नियम पाले जाते हैं धर्मके निमित्तसे उन सबमें यह शिक्षा लेना है कि अहिंसाव्रत की सिद्धि हो और अहिंसा नाम किसका है? अपने आत्माकी हिंसा न होनेका, ज्ञान-दर्शनका घात न होनेका और जहाँ ज्ञानदर्शनका घात हुआ, विकास रुका तो उसका नाम हिंसा है। तो प्रोषधोपवास में ऐसी चर्या बतायी गई है कि जिन धार्मिक कार्योंमें आत्माके ज्ञानदर्शन गुणका विकास हो सके ऐसा अवकाश मिले। तो प्रोषधोपवास व्रत करने वाले पुरुष ने १६ प्रहर तक अहिंसा व्रतकी सिद्धि की।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषां।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः॥१५८॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम्।
नाब्रह्ममैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्छस्य॥१५९॥

प्रोषधोपवासीकी सकारण निष्पापताका वर्णन—शिक्षाव्रतमें सामायिक शिक्षाव्रत, प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत,—इन दो का वर्णन हो चुका, अब तीसरे शिक्षाव्रतका नाम है भोगोपभोग प्रमाण, उसका वर्णन कर रहे हैं कि जो देशव्रती श्रावक हैं उनके भोगोपभोगके निमित्तसे स्थावर जीवों की हिंसा होती है किन्तु जितना उन्होंने भोग और उपभोगका त्याग किया है उससे हिंसाका लेश भी नहीं होता। यहाँ अभी भोगोपभोग प्रमाण नामके शिक्षाकी बात न कहकर उपवासमें गर्भित करके कह रहे हैं कि प्रोषधोपवासके समयमें उस देशव्रती श्रावकने भोग और उपभोग का त्याग किया, न आहार ले रहा, न भोग उपभोगकी कोई साधना रख रहा, तो भोगोपभोगकी साधनाका त्याग करनेसे उसकी हिंसा बची। इसलिये प्रोषधोपवासमें वह पुरुष अहिंसक है, इसी प्रकार प्रोषधोपवासके समयमें वचन-गुप्तिका ध्यान रखना चाहिये। मौनव्रत पालना चाहिये। बोले भी तो धर्मके प्रयोजनसे बोले, वह भी बहुत कम बोले। तो मौनव्रत रखनेसे देखो उसके झूठ बोलनेका भी पाप नहीं लगा। तो प्रोषधोपवासमें जैसे हिंसा पापका अवसर नहीं रहा उसी प्रकार झूठका भी अवसर नहीं रहा। चूंकि कोई आरम्भ नहीं कर रहा, इस लिये चोरीका भी पाप उसके नहीं लग रहा है। जो आरम्भ परिग्रह करते हैं उनके किसी न किसी प्रकार का चोरीका दोष लगता है। कितनी भी सावधानी रखे पर परिणाम लोभकषायका उत्पन्न होता है तो उसीमें चोरीका दोष लगता है। यद्यपि कोई मोटी चोरी नहीं की जा रही है मगर आरम्भ और परिग्रह का सम्बन्ध ऐसा सावद्यका सम्बन्ध है कि उस प्रसंग में किसी न किसी ढंगसे चोरीका अतिचार लगता है। तो प्रोषधोपवास करने वाले ने चौर्यका भी सर्वथा त्याग किया इसलिये उसके अहिंसाव्रत लग रहा है। इसी प्रकार उसने मैथुनका भी परित्याग किया है, पूर्ण ब्रह्मचर्यका नियम लिया है इसलिये उसके कुशीलका भी दोष नहीं है, और उस प्रोषधोपवासके व्रती श्रावकके शरीरमें भी मूर्छा नहीं है फिर अन्य और में तो ममता क्या हो? वह आत्माके अनुभवकी उत्सुकता रख रहा है, उसको हिंसा नहीं लगती। इस प्रकार प्रोषधोपवास व्रतका नियम रखने वाले पुरुषके पाँचों पापोंका त्याग है।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम्॥१६०॥

प्रोषधोपवासीका उपचारसे महाव्रतीपना—इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसावोंका त्याग करके यह प्रोषधोपवास व्रत वाला पुरुष उपचारसे महाव्रती है। उस श्रावकका परिणाम देखो जिस श्रावकने १६ प्रहर तकके लिये व्यापार आरम्भ आहार कषायका परिहार करके एकान्त स्थानमें रहकर, साधुजनोंकी संगतिमें रहकर जो धर्मध्यानमें स्वाध्याय अध्ययनमें सामायिक आदिक कार्योंमें अपना चित्त लगाता है उस पुरुषका परिणाम मुनिकी तरह है। यद्यपि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

थोड़े कपड़े भी रखे हुए हैं, मुनिभेष उसका नहीं है और कुछ समयके लिये ही त्याग किया है, उसके बाद वह ग्रहण करेगा— इन दो बातोंके कारण वह मुनि नहीं कहलाता, लेकिन उसका परिणाम इतना मंद कषायरूप है, कि मुनिकी तरह उसका निर्मल परिणाम चलता है क्यों कि सब आरम्भ परिग्रहोंसे उतने समय तकके लिये वह विरक्त हो गया है। तो यद्यपि चारित्र मोहका उदय है उस श्रावकके, इसलिए संयमका साधन उसने नहीं पाया। गुणस्थान छठा नहीं हुआ लेकिन परिणामोंकी विशुद्धताको देखो और त्यागकी पराकाष्ठाको देखो तो उसके उपचारसे महाव्रत है ऐसा आचार्यसंत देवोंने कहा है।

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रतनामक छठवें शीलका वर्णन— अब यहां भोगोपभोग प्रमाण व्रतका वर्णन करते हैं, भोग और उपभोगके निमित्तसे हिंसा होती है. इस कारणसे इस श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार भोग और उपभोगके साधनोंको और भोगोपभोगकी प्रवृत्तियोंको छोड़ देना चाहिये। यहां शक्तिके अनुसार बताया है क्योंकि घर में रहने वाला श्रावक भोग और उपभोगकी चीजका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि घरमें रह रहा है, स्वयं भोजनका प्रबन्ध करता, उसके लिये कुछ कमाई भी करता और भोजनका आरम्भ भी बनाता बनवाता ये सब उस गृहस्थमें सम्भव हैं, इस कारणसे उसके भोग और उपभोगका सर्वथा त्याग तो हो नहीं सकता इसलिये बताया है कि अपनी शक्तिके अनुसार भोग और उपभोगके साधनका त्याग कर दे। अब इसमें जो हरीका नियम रखते हैं कि मैं जिन्दगी पर्यन्त केवल इतनी हरी खाऊंगा तो यह भोगोपभोगव्रतमें आ गया। जो अचित्त वस्तुवें हैं गेहूं, दाल, चावल आदिक उनको भी भोगमें शामिल समझिये लेकिन सचित्त वस्तुवोंके त्यागपर ज्यादा दृष्टि डालिए। जैसे कोई नियम ले लिया कि हम २५ हरीसे अधिक जीवन पर्यन्त न खावेंगे तो उसका यह संकल्प तो हो गया कि मेरा इन २५ हरी के सिवाय बाकी सब बनस्पतियोंका त्याग है। मनसे उसका विकल्प हट गया इसलिये उसके अहिंसाव्रत लगा। तो गृहस्थके भोग और उपभोग पदार्थोंके निमित्तसे स्थावर जीवोंकी हिंसाका बंध होता है उसको टालनेके लिये ऐसा परीक्षण करना चाहिये कि किस वस्तुमें अधिक पाप है। अब देखिये भोगका साधन अन्न भी है और भोगका साधन हरी भी है पर उसमें विवेक तो करना चाहिये कि अन्नके सेवनमें अधिक पाप है या हरीके सेवनमें। हरी तो साक्षात् स्थावर जीव है उसका तो त्याग करना चाहिये फिर ऐसा विवेक करके जिसमें पाप अधिक जंचे उसका त्याग कर देना चाहिये। तो भोगों के त्यागमें अहिंसाव्रत चलता है इसी प्रकार जो उपभोगके पदार्थ हैं जैसे वस्त्र, पलंग सवारी जो बारबार भोगनेमें आये उसे उपभोग कहते हैं। तो उपभोगकी चीजका भी नियम रहे, हम इतने वस्त्र, इतनी सवारी आदि रखेंगे ऐसा नियम कर लेनेमें भी अहिंसाव्रत चलता है क्योंकि उसमें आरम्भ कम हो जायेगा। आरम्भ कम होने से अहिंसाव्रत की सिद्धि है, इस कारण भोग और उपभोगका अपनी शक्ति माफिक श्रावकको परित्याग कर देना चाहिये। इसमें भी अहिंसाव्रत चलता है। किसे अहिंसाव्रत बोलते हैं उसे कहते हैं—

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

समस्त अनन्तकायोंके परिहारके आजीवन नियमको अनिवार्यता—अगर एक भी साधारण कंदमूल आदिकका घात करनेकी इच्छा करे तो उसने अनन्त जीवोंकी हिंसा कर लीं। तब अनन्त कायोंका तो पूरा ही त्याग करना चाहिये। उन हरियोंमें भी जो अनन्तकाय है—एक फलके आश्रित अनन्त जीव बसते हैं ऐसे अनन्तकायोंका तो परित्याग अवश्य करना चाहिये, फिर जो अनन्तकाय नहीं है, जिनमें असंख्यात जीवोंका विनाश है उसकी फिर सीमा लेवें। कोई भोगकी सीमामें ऐसा नियम कर ले कि हम आलू या और और चीजें इतनी रखेंगे, इससे अधिकका त्याग है तो वह श्रावकके लिये उचित नहीं है। कंदमूल आदिकका त्याग तो सबसे पहिले करना चाहिये, फिर जिसमें

http://sahjanandvarnishastra.org/

असंख्यात काय हैं ऐसी हरीका नियम करे। हम इतनी हरी लेंगे। पहिले बड़ा पाप छोड़नेका प्रयत्न करे फिर छोटा पाप छोड़नेका प्रयत्न करे, आचरणमें ऐसा बताया गया है। जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसका तो सर्वथा त्याग ऐसा पुरुष कर ही देता है। जैसे बाजारका दही, मर्यादासे बाहरकी चीजें, गोभीका फूल—इनका तो त्याग सर्वथा ही करता है, फिर अनन्त कामना परित्याग करे जहां असंख्यात जीवोंका विनाश है। ऐसा नियम ले कि इतने फलोंके अलावा शेष फलोंका हमारा परित्याग है। इस प्रकार भोगोपभोगके साधनोंका प्रमाण करने वाला पुरुष अहिंसाव्रतका पालन करता है। इससे भी भावकी विशेषता अपनी बनाएं। जितने भी नियम किये जा रहे हैं उन सब नियमोंका पालन करते हुये अपनेको मंदकषायरूप रखना, यह अतीव आवश्यक है। अपनेमें कषायोंकी तीव्रता न जगे ऐसा प्रयत्न जरूर रखें, क्योंकि कषाय हुई तो वही हिंसा है। अपनी हिंसा कर ली। दूसरेकी हिंसा नहीं की। दूसरे की हिंसा तो हो जाती है निमित्तनैमित्तिक विधिसे। सो उसके मूलमें चूंकि भावहिंसा बसी है, संकल्प विकल्प बसे हैं इसलिये हिंसा है। वास्तवमें यह जीव अपने परिणाम खोटे बनाकर अपनी हिंसा करता है। तो इस हिंसासे बचनेके लिये हम बाह्यमें चरणानुयोगके अनुसार अपना व्रत पालन करें और निश्चयसे अपने उस कारणसमयसार चैतन्यस्वभाव की दृष्टि रखकर हम स्वभावके परमब्रह्मकी उपासना करें। अपने अविकारी भावकी उपासना करनेसे पर्याय भी अविकारी बन जायेगी, इस कारण अपना जैसा ज्ञानानन्दस्वरूप है ऐसा अविकारी चैतन्यमात्र अपनेको प्रतीति करें और नियमोंका पालन करते हुए धर्मध्यानमें अपना समय व्यतीत करें।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

नवनीतकी त्याज्यता—भोगोपभोग प्रमाणव्रतमें प्रथम तो यह शिक्षा दी है कि जिन चीजोंमें अनन्त स्थावरकी हिंसा होती हो उन चीजोंका सर्वथा त्याग करें, क्योंकि अनन्त काम चीजोंमें अनन्त जीवोंकी हिंसा होती है। अब कहते हैं कि ऐसी भी चीजोंको त्याग देवें जो अनेक जीवोंका योनि स्थान बन गए हों। यद्यपि उनमें प्रकट जीव नहीं दिखते हैं तो भी जो योनि स्थान हैं उनका त्याग करना चाहिए। जैसे मक्खन। मक्खनमें अन्तर्मुहूर्त बाद जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है और वैसे भी मक्खन एक कामवर्द्धक वस्तु है इसलिए उसका त्याग करना चाहिए पर कदाचित् यह सम्भव हो सकता है कि कोई विशेष बीमारी इस प्रकारकी हो जिसमें मक्खन औषधिमें लिया जाता हो तो तत्कालका मक्खन औषधिरूपमें लिया जा सकता है। तो मक्खन त्यागने योग्य है और आहारकी शुद्धतामें जो वस्तुविरुद्धता जंचती हों वे सब त्यागने योग्य हैं। इस प्रकरणमें सीधा स्पष्ट यों जानना चाहिए कि जो पदार्थ त्रसकायक हैं वे तो प्रकट हिंसा की चीज हैं, उनका तो त्याग करें ही करें, पर जो वस्तुवें जीवोंका योनि स्थान हों उनका भी परित्याग करना चाहिए। फिर इसके बाद अनन्त काय जीवोंका त्याग करें? अनन्त काय जीव दो तरह के हैं, एक तो निराधार और एक साधार। जो निराधार निगोद जीव हैं उनकी ऐसी हिंसा अग्नि से भी नहीं हो सकती क्योंकि निराधार है, सूक्ष्म है, वायुसे भी उनकी हिंसा नहीं हो सकती। वे तो अपने आप एक श्वासमें १८ बार जन्मते और मरते रहते हैं। जो साधार हैं वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाते हैं याने 'प्रत्येक शरीर' उन्हें कहते हैं जिनके एक शरीरका एक ही जीव स्वामी हो। जैसे हरी जीजमें जो कि प्रत्येक तो है पर अनन्तस्थावर जीव और उसके आधार रहते हैं, उन्हें अनन्तकाय कहते हैं, वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। जो निगोदसे रहित हैं वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। अप्रतिष्ठित प्रत्येक तो त्यागी खा सकता है, मगर सप्रतिष्ठित प्रत्येकको त्यागी नहीं खा सकता और भी चीजें जो त्यागने योग्य हों उनका परित्याग करना चाहिए। जैसे हींग आदिक ये कुछ चमड़ेमें रखकर आते हैं। कुछ यों ही गलाई सड़ाई जाती है तो उसका भी त्याग करें। दूध, दही, मट्ठा, अनछना पानी ये अगर चमड़े में रखे हों तो उनका परित्याग करें। क्योंकि उनमें भी त्रस जीवोंकी सम्भावना है। बिना जाने हुए फलोंका भी त्याग करें। घुना बीधा हुआ अन्न, बाजारका आटा, अचार, मुरब्बा आदि चीजोंका परित्याग करें।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मूल स्रोत तो यों निकला कि ज्ञानी गृहस्थ जानता है कि यह जो बाह्य परिग्रह है, वैभव है यह विडम्बना, विपत्ति है, परचीज है इसको छोड़ना चाहिये, ऐसा गृहस्थका भाव रहता है। ऐसे गृहस्थको योग्यपात्र सामने आ जाय तो धनके त्यागनेमें लगानेमें उसे संकोच नहीं होता। तो त्यागमें अपना और परका उपकारके प्रयोजनसे श्रावक अतिथियोंको साधुवोंको विशेष द्रव्यका दान करता है।

दानकी विशेषतायें—विधिविशेष हो तो दानमें विशेषता होती है। एक यों ही पड़गाह दिया तो उसमें दानका महत्व घट जाता है। विधिको विशेषतासे दानमें विशेषता होती है। इसी प्रकार दाताकी विशेषतासे दानमें विशेषता है। दाता निर्लोभ हो, गुणोंमें अनुरक्त हो, अपना अहोभाग्य समझे। तो दातामें विशेषता होनेसे भी दानकी विशेषता है, पात्रमें विशेषता होनेसे भी दानकी विशेषता है, योग्य पात्र हैं, योग्य मुनि हैं तो उससे भी विशेषता बनी और द्रव्य जो है योग्य उपकारी उनके अनुकूल पड़े, उनके संयममें साधक हो ऐसी चीजोंका दान करें तो उससे भी दानकी विशेषता होती है, यह श्रावकका आवश्यक कर्तव्य है। वैसे श्रावककी चर्या यदि शुद्ध भोजनकी हो तो उसमें अतिथि सम्विभाग व्रत सहज पलता है। शुद्ध भोजन बनाया, भोजन करनेसे पहिले प्रतीक्षा कर ली, दुबारा भी प्रतीक्षा कर ली, फिर किसी त्यागी व्रतीको आहार देकर अपना अहोभाग्य समझकर फिर खुद आहार करे। इस व्रत का सम्बन्ध अहिंसासे है अहिंसासे परिणामोंमें विशुद्धि, सयममें अनुराग, ज्ञानवैराग्यमें वृद्धि, ये सब बातें होती हैं। तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी साधुजनोंका प्रसंग हो तो ऐसा विशुद्ध वातावरण होता है कि अपनेको सद्गुणों की प्रेरणा मिलती है। श्रावकोंका अतिथिसम्विभाग व्रत चलता रहता है और जितना आवश्यक अहिंसा व्रतका पालन है उतना ही आवश्यक श्रावक पदवीमें रहकर अतिथिसम्विभाग व्रतका पालन है। मान लो कि जितने बारह व्रत लेने वाले ब्रह्मचारीजन गृहस्थजन श्रावकजन हैं वे तो अपनेमें यह भाव भर लें कि हमने तो प्रतीक्षा करली है अब और श्रावकों का काम है कि हमें बुलायें खिलायें और स्वयं कुछ न करें तो क्या परिस्थिति हो गयी कि बस मुनिदानकी परम्परा अतिथियोंसे चली। दो प्रकारके गृहस्थश्रावक होते हैं—एक गृहविरत और एक गृहनिरत। अब सब प्रतिमाधारी गृहविरतका रूप रखते हैं लेकिन गृहविरत का अर्थ है घरके व्यापार आरम्भ उलझन आदिकसे दूर रहें। उसका इतना उच्च अर्थ नहीं है कि परिग्रह त्यागी साधुकी तरह दूसरों पर निर्भर रहे या अपना कुछ कर्तव्य न समझे। अगर ऐसा वह करता है तो अतिथि सम्विभाग व्रत न पालने से इस बारहवें व्रतमें उसके कमी रहती है और कमी रहनेसे उसके उस प्रतिमाका पालन नहीं है। अब दानस्वरूपकी विधिमें नवधाभक्तिकी बात बतलाते हैं—

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रमाणं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

पात्रोंको नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान करनेका उपदेश—अतिथि सम्विभागव्रतको शिक्षा व्रतमें लिया है। शिक्षाव्रत उसे कहते हैं जिससे मुनिधर्मकी शिक्षा मिले। तो विधिपूर्वक जो साधुवोंको दान देगा वह श्रावकोंसे आहारदान लेनेकी विधि अच्छी जान जायेगा और वह निर्दोष उसे ग्रहण कर लेगा। तो उससे मुनिधर्मकी शिक्षा मिली ना? जो मुनियोंको आहारदान देता है वह जब मुनि बनेगा तो आहार दान लेनेकी निर्दोषविधि उसे खूब याद रहेगी। दूसरे बीच-बीचमें ननकी मुद्रा प्रक्रियाको निरखकर साथ ही उस आहार क्रियाके भीतर भी कब ७वां गुणस्थानमें आया, कब छठे गुणस्थानमें आ गया, इन बातों का भी अनुमान उनके संकेतसे निरख लेता है तो उसके बहुत उत्कृष्ट गुणानुराग होता है। भोजन करने में कमसे कम २०-२५ मिनट तो लगते ही हैं। और छठे गुणास्थान का समय २०-२५ मिनटका नहीं है। उसका तो सेकेण्डोंका ही समय है। ७वें गुणस्थानके बाद छठा गुणस्थान और छठेके बाद ७वां गुणस्थान यह बराबर चलता रहता है। तो इतने २०-२५ मिनटके भीतर वह कैसे प्रमत्तदशामें और कैसे अप्रमत्त दशामें पहुंचता है? यह सब एक धर्मलीला भी श्रावक निरखता रहता है और उसके पहिले उत्कृष्ट गुणानुरागमें पहुँचता है। विधिमें बताया है कि सबसे पहिले प्रतिग्रहण करे। पहिले तो साधुको बुलाये अब प्रतिग्रहण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में जो विधि है किस तरह बुलाना, किस तरह बुलाकर भीतर ले जाना यह सब प्रतिग्रहण कहलाता है। भीतर ले जाने के बाद फिर उच्च स्थान देना, इसके बाद फिर पैर धोना, पादप्रक्षालन करना इसके बाद अर्चन पूजन गुणस्तवन, इसके पश्चात् प्रणाम नमस्कार करे, फिर मनशुद्धि, वचनशुद्धि,, कायशुद्धि और आहारशुद्धि बोले। इस प्रकार यह नवधाभक्ति हुई। अब जरा एक साधारण दृष्टिसे विचारो तो मामूली गृस्थको भी किसी रिश्तेदारको आप खिलाते हैं तो इन ९ बातों की झलक उसमें भी आ जाती है। थोड़े रूपमें आप बोलेंगे चलिये साहब भोजन करने के लिए। वहां ले जाकर ऊंचे आसनपर भी बिठायेंगे, चाहे पलंग हो, चाहे गद्दा हो अथवा कुर्सी हो। फिर आप जब उसे भोजनशालामें ले जायेंगे तो पैर धुलायेंगे अथवा खुद धो देंगे। भोजन करतेके समय बीच-बीचमें आप अच्छे शब्द बोलते ही हैं। प्रमाणकी तरह उसके साथ झुकने व्यवहार करनेकी बात भी आप करते हैं। यदि इस प्रकारका आदर आप नहीं करते तो वह महिमान भोजन करनेकी चाह भी मनमें नहीं रखता। उसे यदि पता पड़ जाय कि बिना मनके खिला रहे हैं तो उससे रोटी नहीं चलती। फिर शरीरशुद्धि भी उसके अनुकूल है जैसा कि वह महिमान है। कुछ ढंगसे रहे, कुछ और और काम करता हुआ न खिलाये। तो कमसे कम इतनी शरीरकी शुद्धि तो हर एक महिमानके लिए करनी होती है कि आहार कराते समय और काम न करे, वहां ध्यान रखे और साधारण रूपसे इन ९ बातोंकी झलक करीब-करीब सबमें आती है, लेकिन यह धर्मात्मा गुरुवोंका प्रकरण है। उनके लिए इन बातोंकी बड़ी विशेषता होनी चाहिये। उत्तम पात्रको ९ प्रकारकी भक्तिसे दान देना चाहिए और सामान्यपात्रको अपने और उनके गुणोंको विचारकर यथोचित विधिसे दान देना चाहिए।

अपात्र पापीजनोंके आदरका अर्थ पापका आदर—जो अपात्र हैं, मिथ्यादृष्टि जन हैं उनके लिये ये कुछ भी क्रियायें न करना चाहिए। अगर पापी पुरुषका आदर किया तो उसके मायने यह हो गये कि पापमें आदर बुद्धि हुई। तो उसमें एक तरहसे पापका दोष लगता है। जैसे जो लोग उपदेश करते हैं कि भाई गोहत्या बन्द हो तो सबसे पहिले उनके लिए यह कहना पड़ता है कि तुम भी चमड़ेकी चीजोंका त्याग करो। अगर चमड़े की चीजोंका त्याग नहीं करते तो उसका अर्थ है कि गोहत्यामें वे सहायक हैं। इसी तरह पापी जीवोंका आदर करनेमें पापको प्रश्रय दिया है और लोग देखने वाले उससे प्रभावित होंगे। वे अपनी पापमें परिणति बनायेंगे। इस कारणसे जो पाप रूप हैं, पापके आश्रय हैं, मिथ्यादृष्टिजन हैं, अज्ञानी हैं, उनका आदर करनेसे और आदर करके दान करने से पहिले पापमें अनुराग होता है, पापका बन्ध होता है। उन्हें भूखा देखकर दयाभाव आये तो उसे भोजन करा देवे, मगर वह पात्र आदरबुद्धिका पात्र नहीं होता है। ज्ञानीका आदेय तो विरक्त ज्ञानी संत है।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६९॥

दातार के सप्त गुण—इसमें दातारके ७ गुण बताये गए हैं— पहिला है इस लोकके फलकी वाञ्छा न करना। जैसे दान देकर यह भाव हो कि हमारे सम्पदा बढ़े, खूब घरका काम चले या अन्य कुछ प्रयोजन सोचना तो ऐसा प्रयोजन सोचनेमें दोष है। वह गुणवान दान नहीं है, उस दानका प्रभाव नहीं लगता। दूसरा है क्षमा। क्षमाशील होना चाहिए दातार, क्योंकि विशिष्ट क्षमाशील श्रावक ही सविधि साधुपरमेष्ठीको आहारदान कर सकता है। क्षमाशील पुरुष द्वारा विधिपूर्वक दान देनेकी संभावना हो सकती है। जिसके जरासी बातमें क्रोध सा आ जाय तो वह दान क्या दे सकता है? दूसरा गुण दातार में क्षमाका होना है। कोई बात अपने प्रतिकूल समझ लें साधुवोंको आहार देते समय या कुछ अपनेको थोड़ा बहुत अरुचिकर जंचे, मन बिगाड़ ले तो वह दान नहीं दे सकता। तीसरा गुण होना चाहिए निष्कपटता। सरलतासे आहार दे। आहार दान देते समय क्या कपट हो सकते हैं। कोई होते होंगे। मनमें प्रसनन्ता न हो दान देने वालेको और ऊपरसे मुखमुद्रा खुशीकी बनाये, हम बड़े खुश होकर आहार दान दे रहे हैं, तो ऐसे कुछ कपट होते होंगे। अथवा आहारकी चीजोंके देते समय कोई कपट भाव होता होगा। यह भी कपट सम्भव है। यह तो कपट बहुत ही बुरा है कि आहारकी वस्तु शुद्ध न हो, योग्य न हो और शुद्ध कह कर दे दे यह तो बहुत

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कपट की बात है। तो तीसरा गुण होना चाहिए दातामें निष्कपट का। चौथा गुण है ईर्ष्यारहितपना। अमुक पड़ौसी ने इतने बार आहार दिया मैं इससे अधिक दूं, इससे पहिले दूं ये सब ईर्ष्याभाव है। यह ईर्ष्याभाव भी आहारदाता श्रावकमें न होना चाहिए। ईर्ष्यासे दिए हुए दानमें दानका परिणाम नहीं बनता। ५वां गुण है अखिन्न भाव। खेद-खिन्न न हो। उतना ही दान करना, उतनी ही चीजें रखना, उतना ही बनाना जितनेमें खेद उत्पन्न न हो। अब आ गए हैं, कौन करने वाला है, अपन सबको ही तो करना है ऐसा कोई खेद भाव न आये तो उसका दान दान है। वैसा करे कोई तो करे, मगर उसमें दानकी महत्ता नहीं हो सकती। छठा गुण होना चाहिए हर्षभावका। दान देते हुएमें हर्ष हो। अब देखिये चीज की चीज दे रहे, कष्ट भी सह रहे और हर्ष न हो तो चीजसे भी लुटे और परिणाम पापमय ही रहे। उसके दोनों काम बिगड़ गए। तो दानमें हर्षभाव होना चाहिए। जिस साधुको आहार दान दे रहे हैं उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणोंका विचार करके, उनकी वैराग्य भावनाका ध्यान करके कि यह संसारसे विरक्त हैं और एक अपने आत्मध्यानकी साधनामें ही लगे रहते हैं ये सब बातें जब श्रावकको रुचती हैं साधुसे तो वह बहुत हर्षित हो जाता है। ७वां गुण होना चाहिए निरभिमानता। घमण्ड न होना चाहिए। दान देते समय श्रावकको घमण्ड हो सकता है अन्य श्रावकोंपर दृष्टि देकर घमण्ड दूसरेपर दृष्टि डालकर ही हुआ करता हैं। तो अन्य श्रावक जनोंको दिखाने के लिए अपना बड़प्पन बताना, अपनी मान्यता साबित करना ये सब अभिमान हो सकते हैं। तो अभिमान भी न होना चाहिये। कदाचित् साधुवोंको भी निगाहमें रखकर कर सकता है गृहस्थी, हम साधुवोंकी ऐसी सेवा करते हैं और हम इन्हें पालते हैं, हम इन्हें लिये जा रहे हैं, हम इनका प्रबन्ध कर रहे हैं। तो उन साधुवोंके प्रति निगाह रखकर एक अहंकार रूप परिणाम कर सकते हैं, पर यह अभिमान अच्छा नहीं है। निरभिमान होकर दान करना चाहिए। ये ७ गुण दातारके हैं जिनके कारण दान में विशेषता होती है।

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥

पात्रके लिये योग्य द्रव्यकी देयताका कथन—इस शिक्षाव्रतके वर्णनमें हमें दो बातें जानना चाहिए कि इससे अहिंसाव्रतकी सिद्धि होती है और मुनिधर्मकी शिक्षा मिलती है। जो समस्त व्रत, नियम जितने भी पालन किए जाते हैं वे सब अहिंसाकी सिद्धिके लिए होते हैं, अहिंसाकी सिद्धिका अगर लक्ष्य नहीं हैं तो उन व्रत नियमोंका कुछ महत्व नहीं है। सो एक तो यह जाननेमें आना चाहिए कि इस नियममें अहिंसा की सिद्धि क्या होगी, दूसरे यह शिक्षा व्रतका भाव है यह भी ध्यानमें होना चाहिए। कि इसमें मुनिधर्म की क्या शिक्षा मिलती है? दातारके जो ऊपर ७ गुण बताये उनसे दातारकी आत्मरक्षा है, यही तो अहिंसाकी सिद्धि है और उससे मुनित्वकी ओर आकर्षण है। सो मुनिधर्मकी शिक्षा है। इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि पात्रको द्रव्य कैसा देना चाहिए। ऐसा द्रव्य चाहिए जो तप और स्वाध्यायमें वृद्धि करनेमें सहायक बने। भोजन श्रावकको न देना चाहिए क्योंकि उससे साधुमें प्रमाद आता है, वह स्वाध्याय नहीं कर सकता। त्यागी जनोंको भी चाहिए कि वे गरिष्ट भोजन न ग्रहण करें जो स्वाध्यायमें बाधक प्रतीत हो। यहाँ यह बात बता रहे हैं कि श्रावकको कैसा आहार देना चाहिये? जब त्यागियोंकी ओर से प्रकरण चलेगा तो वहाँ यह बताया जाएगा कि त्यागियोंको किस तरहका आहार लेना चाहिए? तो श्रावकको ऐसा आहार दान करना चाहिए जो तप और स्वाध्यायमें वृद्धि करे। अन्य लोगोंमें जैसे यह प्रथा है कि साधुजनोंको मकान देते, घोड़ा, हाथी देते, सोना चांदी देते, शस्त्र भी देते त्रिशूल वगैरह, उन साधुवों के पास बहुत ठाठ हैं, उनके मठ बने हैं, तो ये चीजें दान देने योग्य नहीं है। जो इन वस्तुओंका दान करते हैं वे पापबन्ध करते हैं। दानमें ऐसे पदार्थ देने चाहिए जो विकारभावको न उत्पन्न करे और तपश्चरणकी वृद्धि करें। वे दान चार प्रकारके हैं—आहारदान, औषधिदान, अभयदान और शास्त्रदान। दानमें विशेषता सभी दानोंकी हैं फिर भी आहारदान मुख्यता है। सभी दानोंमें आहारदानकी प्रमुख विशेषता है। आहारदानमें औषधिदान भी हो गया क्योंकि क्षुधा रोग तो लगा ही है। अभयदान

Version 1

भी हो गया क्योंकि उसमें धर्म करनेकी सामर्थ्य जागृत होती है। शास्त्रदान भी है क्योंकि वह ज्ञान ध्यानमें अपना अधिक उपयोग लगानेका अवसर पाता है। शास्त्रदानकी भी बात देखो तो यह दान भी बड़ा मुख्य है, यही ज्ञानदान है क्योंकि आहारमें २४ घण्टेकी वेदना मिलेगी, पर शास्त्रदानसे अर्थात् ज्ञानदानसे तो सदाके लिए संसारके संकट छूट जायेंगे। तो ज्ञानदानका भी बहुत बड़ा महत्व है। और यों करो कि असली तो ज्ञानदान है, मुख्य चीज तो ज्ञानदान है। उसी ज्ञानकी साधनाके लिये बाकी शेष तीन दान हैं। वे तीनों दान ज्ञानकी सहायताके लिए हैं। एक औषधिदान है। कोई रोग हो गया तो उस समय औषधिदान देना भी आवश्यक है। अभयदानमें कोई आपत्ति आये, उपसर्ग आये, कठिन परिस्थिति आए उस समय जैसे वह साधु निर्भय हो सके वैसा काम करे। वसतिका बनवाना भी अभयदानमें शामिल है। यों ७ गुणवाला दातार अतिथिसम्विभागव्रतमें अतिथिका सम्विभाग करे। यह श्रावकका रोजका काम है। श्रावक सिर्फ साधुके लिए आहार न बनावे। सभीके लिए आहार बना है ऐसा मालूम पड़ना चाहिए। यदि केवल साधुके लिए आहार बना है तो उसमें उद्दिष्टकी बात आती है। साधु यह समझ ले कि हां यह हमारे ही लिए आहार नहीं बना है बल्कि सभीके लिए यह आहार बना है तो इसमें उद्दिष्टकी बात नहीं आती है। तो यों अतिथि सम्विभाग-व्रत श्रावकको रोज रोज करना चाहिए।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकल विरतश्च ॥१७१॥

तीन प्रकारके पात्र—जिनको दान देना चाहिए उन्हें पात्र कहते हैं। तो इसमें पात्रका लक्षण कहते हैं कि मोक्षके कारणभूत् गुणोंका जहां सम्बन्ध पाया जाय उसे पात्र कहते हैं। बहुत अच्छा लक्षण कहा है। पात्र मायने योग्य। जहां पर रखा जा सके, भरा जा सके। तो जिस आत्मामें सम्यग्ज्ञान, सम्यकदर्शनऔर सम्यक्चारित्र रखा हुआ हो वह सब पात्र कहलाते हैं। वे तीन प्रकार के हैं—अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और महाव्रती। जानने के सम्बन्धमें तो पात्रका निर्णय छठेगुणस्थान तक है, ७वां गुणस्थान यद्यपि मुनियोंके बीच बीच होता रहता है, आहार करते हुएमें भी लोकप्रवृत्तिकी वहां मान्यता है और अवस्था में ७ वें गुणस्थान से अधिक गुणस्थान होता ही नहीं। तो जघन्य हुए चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव। मध्यम पात्र हुए पंचम गुणस्थानवर्ती जीव। जो कुछ व्रत रूप हैं कुछ अव्रत रूप हैं, इसमें जो व्रत अव्रत हैं वे पंचमगुणस्थानवर्ती जीव मध्यमपात्र हैं। उत्तम पात्र हैं संयमी जीव, महाव्रती जीव। दानके प्रकरणमें यों जघन्य, मध्यम और उत्तमका भेद है, जहाँ अन्तरात्माका कथन है, मोक्ष पात्रताका कथन है वहां उत्तम पात्र उत्कृष्ट अन्तरात्मा तो है ध्यानी मुनि। सप्तम गुणस्थान और इससे ऊपर और मध्यम पात्र हैं प्रमत्त गुण-स्थान वाले मुनि और पंचम गुणस्थानवर्ती जीव। ये मध्यम अन्तरात्मा है और जघन्य अन्तरात्मा है अविरत सम्यग्दृष्टि जीव। पात्रको जैसे भावसे दान दिया जाता है, वैसे ही सफलका भोगी दाता होता है और यह पात्र व्यवहार दर्शन ज्ञान और चारित्र गुणोंकी अपेक्षासे होता है। पात्र कौन उत्तम मध्यम और जघन्य है? यह भेद सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके विकासकी अपेक्षा है, इसी प्रकार पात्रका लक्षण यह है जिसके रत्नत्रयका गुण भर जाय, भर रहा हो। पात्र के अतिरिक्त अन्य पुरुषोंको जो दान दिया जाता है वह दान दयामें शामिल है और दया दानमें विशेषता दयाकी है, इससे भी अत्यन्त अधिक निर्णय तो स्पष्ट शब्दोंमें कोई बता नहीं सकता, ऐसे अनेक परिणमन होते हैं। कोई कुभेषी हैं, कोई खोटे मत वाले हैं। वे आहारके लिए आयें तो उन्हें दान न दे, दे भी तो उन्हें पात्र बुद्धिसे देनेमें दोष है। दया बुद्धिसे दे तो उनको देखकर दयाकी बात चित्तमें नहीं आती, किन्तु थोड़ासा भय होता, लाज होती। अनेक बातें उत्पन्न होती हैं, कदाचित समझमें आए कि यह पीड़ित है वास्तवमें तो कभी दया भी उत्पन्न होती है। क्या स्पष्ट शब्दोंमें निर्णय बताया जाय, यह तो अपने-अपने भावों पर निर्भर है। पात्रोंको दान दे तो धर्मबुद्धिसे दे और अन्यको दान दया बुद्धिसे देना चाहिए। इसके अलावा और भी दान हैं। जैसे दानोंमें बताया गया है एक समदत्ती दान यह दान साधारण पुरुषोंको दिया जाता है। इसमें दया और पात्रता दोनोंका समावेश है। एक होता है सर्वदत्ती दान।

कोई पुरुष जब दीक्षा लेनेका उद्यमी होता है तो अपने अधिकारीको पात्रको जो घरका अधिकारी चुना गया है उसको सब कुछ देकर विरक्त हो जाना, इसको सर्वदत्ती दान कहते हैं तो यहां पात्रदानका प्रकरण है। अतिथिसम्विभाग महाव्रतकी बात चल रही है। अतिथिको योग्य भक्तिसे दान देनेका नाम अतिथि सम्विभाग व्रत है।

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ।।१७२।।

दानमें अहिंसारूपताकी सिद्धि—इस अतिथिसम्विभाग व्रतके पालनेमें इस दानमें चूंकि हिंसाका परिहार होता है इसलिये अहिंसा है। लोभ परिणाममें जीवको परके प्रति अपनायतकी दृष्टि होती, आकर्षण बुद्धि होती, संग्रह करनेका विकल्प होता है, तो इन विकल्पोंसे निज परमात्मतत्त्वका घात होता है, अतः लोभपर्याय हिंसा है। अतिथिसम्विभागमें चूंकि द्रव्यदान किया है अपना परिणाम विशुद्ध किया है वहाँ मनका लोभ, वचनका लोभ नहीं है, वहाँ कुवचन नहीं बोल सकते। धनका लोभ तो यहां रहा ही नहीं है, लोभ चूंकि यहां दूर होता इसलिये अतिथि सम्विभाग व्रतमें अहिंसा धर्मका पालन होता है। हिंसा नाम है रागद्वेषके उत्पन्न होनेका। तो द्रव्यमें चूंकि राग था, वह राग अब नष्ट किया जा रहा है इसलिये यह अहिंसा ही है। पात्रमें राग होता है वह गुणानुराग है। भक्तिमें केवल राग ही राग नहीं हुआ करता। केवल राग ही राग हुआ करता है विषयोंमें और जहां केवल राग ही राग है हिंसा उसे कहते हैं, और भक्तिरूप जो परिणाम है वह केवल रागसे नहीं बनता। राग और वैराग्य दोनोंका वहां सम्बन्ध है। जब भक्तिका परिणाम बना उस भक्तिमें भी जो परिणाम बना और उस भक्तिमें भी जो यथार्थरूपसे परमात्मस्वरूपके गुणोंमें अनुराग चल रहा है इसमें वैराग्य तो मुख्य है और राग अल्प है। राग शुभ है तो जैसे कुछ लोग ऐसा कह बैठते हैं कि जितने भी राग हैं वे सब हिंसा हैं तो रागका स्वरूप हिंसामें तो आता है मगर इस माध्यम को कह कर भक्तिको भी, ध्यानको भी हिंसा बना देना यह कुछ अनुचित व्यवहार है क्योंकि इस कथनमें जो वैराग्य की बात है उसे तो चुरा ले गया और रागकी बातको ही सामने रक्खे गया और उसमें हिंसाकी सिद्धि की गई। यद्यपि उस भक्तिपरिणाममें भी जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्धन है और बन्धनका ही नाम घात है, लेकिन जिनेन्द्रदेवकी भक्ति, परमात्मस्वरूपकी भक्ति और निज कारणसमयसार की भक्ति—इनमें जो राग उमड़ता है वह राग एक वैराग्यके आधारको पाकर उमड़ता है। वह राग राग रहे और प्रभुमें भक्ति पहुंचे, यह बात नहीं बनती है। तो जहां राग और वैराग्य दोनोंका समारोह है वहां वैराग्यकी बातको छोटी करके रागकी बात ही सामने रखकर उसे हिंसा कहनेका चाव रखते, यह सन्मार्गगामीका व्यवहार नहीं बनता। तो इस भक्तिमें जो साधुवोंके गुणोंका अनुराग चल रहा है जिस अनुरागकी प्रेरणा पाकर जिसमें ये साधु महाराज भली प्रकार संयम कर सकें, जिनमें इतनी निराकुलता रहे ऐसी वाञ्छासे जो दान दिया जाता है वह अतिथिसम्विभाग व्रत है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये सकथं न हि लोभवान् भवति ।।१७३।।

गुणी अहिंसक अतिथिके लिये दान न करने वाले गृहस्थके लोभवत्त्वकी सिद्धि—ऐसे साधुजनोंको जो अतिथि हैं, जिनके किसीसे मोह नहीं है, रागद्वेषका परिहार करके जो समताभावमें रहा करते हैं, ऐसे संयमीजन गुणयुक्त और अपनी गोचरी वृत्तिसे, दूसरोंको पीड़ा न देते हुये श्रावकके घरके सामने आये हुए हैं और उन्हें जो गृहस्थ आहार आदिक दान नहीं देते हैं, उन्हें लोभी कैसे न कहा जाय ? एक ऐसा भी प्रश्न रखा जा सकता है कि घरमें उतनी व्यवस्था शुद्ध भोजनकी नहीं है जितनी देना आवश्यक है, और और कामोंमें तो बहुत कुछ खर्च कर डालते हैं तो इस मामलेमें लोभी कैसे कहलाये ? लेकिन जो चीज उनके लिये खास रोज दान करने की है आहार आदिक, मान लो और अन्य-अन्य प्रकारकी सुविधायें खूब दी जायें और आहार न दिया जाय तो मुनिका सत्कार या अतिथिका गुणानुराग क्या हुआ ? यह एक भावोंकी शिथिलता है। घर पर रहते हुये घरमें रहने वाले गृहस्थ चूंकि अपनी २४

घंटेकी चर्या ठीक बना सकते हैं, जैसी विधि करे, जैसी प्रक्रिया प्रारम्भ करे बराबर वैसी निभा सकते हैं। केवल एक भाव की कमी होनेसे वह अपने को निभानेमें असमर्थ समझता है। तो गुणानुरागसे प्रेरित होकर गृहस्थ अतिथि दान किये बिना नहीं रह सकता। जो पुरुष घर पर आये हुए संयमी मुनिके लिए आहार आदिक दान नहीं देता उसे लोभी कैसे नहीं कहा जा सकता ?

निर्ग्रन्थ साधुकी आहारचर्यामें गर्तपूरणवृत्ति भ्रामरीवृत्ति—महाराज जो आहारको निकलते हैं, जिस विधिसे निकलते हैं उसे ४ विशेषणोंसे बताया गया है। उनकी चर्याका नाम, भिक्षावृत्तिका नाम है—गोचरीवृत्ति, भ्रामरीवृत्ति, गर्तपूर्णवृत्ति और अक्षमृक्षणवृत्ति। गर्तपूर्णवृत्तिमें उनका ध्येय है गड्ढा भरना। पेटको एक गड्ढे का अलंकार दिया है। जैसे किसी बड़े गड्ढेको भरते समय यह नहीं ध्यान दिया जाता कि बढ़िया चिकनी मिट्टी भरें, या कैसी भी मिट्टी भरें ऐसे ही आहारमें वे यह ध्यान नहीं देते कि यह आहार बढ़िया स्वादिष्ट है या नहीं। जैसा चाहे रस-नीरस प्रासुक आहार हो उसीसे वे मुनिजन अपने उदर गर्तको भर लेते हैं। हाँ, वे केवल भक्ष्य और अभक्ष्य को देखते हैं क्योंकि अभक्ष्य आहारसे उनके संयममें बाधा है। तो यह हुई गर्तपूर्णवृत्ति। भ्रामरीवृत्तिका अर्थ है कि भ्रमरकी तरह साधुजनोंकी वृत्ति होती है। जैसे भ्रमर किसी पुष्पसे मकरंद लेता है तो थोड़ी मकरंद लेकर उड़ जाता है ऐसे ही साधुजन किसी भी गृहस्थके यहां जो भक्तिपूर्वक आहार दान दे रहा है उसके यहां आहार लेकर झट अपनी संयम साधनाके लिये चले जाते हैं। खड़े-खड़े आहार लेना साधुवोंको बताया है। तो लोक-व्यवहारकी दृष्टिमें यद्यपि कुछ लोगोंको अयोग्य-सा जंचता है कि यह क्या भोजन है खड़े-खड़े ले जाते हैं, लेकिन जिन साधुवोंका चित्त लोकसे उपेक्षित हो गया है वे लोकको न देखेंगे किन्तु जिसमें गुणोंकी वृद्धि हो उस कामको देखेंगे। खड़े-खड़े आहार लेनेमें, ऐसा समझा जाता है कि स्वल्प आहार लिया जाता है इस प्रकारकी पेटकी स्थिति रहती है। कुछ ऐसा नसाजाल बना रहता है कि खड़े-खड़े उतना भोजन नहीं लिया जा सकता जितना बैठे-बैठे लिया जा सकता है। यह हम अपनी समझ से कह रहे हैं। और मुख्य बात तो हमें यह मालूम देती है कि उन साधुवोंके पास इतना अवसर नहीं है कि वे बैठकर ढंग बनाकर आहार ले सकें। जैसे जिस बच्चेके खेल खेलने में धुन लगी है उसे उसकी मां जबरदस्ती पकड़ ले जाती है खाना खिलाती है तो वह थोड़ा-सा खड़े-खड़े खाकर ही भाग आता है और अपना खेल खेलने लगता है, ऐसे ही ये साधुजन अपने आत्मखेलमें रत रहा करते हैं। उनके चित्त में आहार करने जाना है ही नहीं तो मानो यह क्षुधा मां इन्हें जबरदस्ती खींचकर आहारके लिये ले जाती है, पर जल्दी ही खड़े-खड़े कुछ खा कर भग आते हैं और अपने आत्मरमणके खेलमें रत हो जाते हैं। तो यों वे साधु खड़े-खड़े ही आहार लेते हैं। साधुजनोंको अल्प आहार क्यों बताया गया है ? अल्प आहार लेनेसे साधुका ध्यान साधनामें मन लगता है। अधिक आहार लेने पर प्रमाद बना रहता है जिसके कारण सामायिक वगैरहके करनेमें बाधा होती है। जब अधिक आहार करेंगे साधु तो उन्हें करवट लेकर लेटना ही सुहायेगा। प्रमाद ही बना रहेगा, इससे अधिक आहार उनको ध्यानकी साधनामें बाधक है, इसलिये उन्हें अल्प आहार लेना बताया गया है। तो वे साधु भ्रामरीवृत्तिसे दूसरोंको पीड़ा न देकर तुरन्त खड़े-खड़े आहार लेकर चले जाते हैं। ऐसे भी पुरुषको जो आहारदान नहीं कर सकते वे क्या लोभवान् नहीं हैं ?

साधुकी आहारचर्यामें गोचरीवृत्ति व अक्षमृक्षणवृत्ति—साधुकी एक वृत्तिका नाम है गोचरीवृत्ति। गो मायने गाय, चरी मायने चरे। जैसे गाय घास चरती है तो गायको चाहे कोई सुन्दर महिला भोजन दे जाय, चाहे कुरूप महिला भोजन दे जाय, चाहे बहुत श्रृङ्गारकी हुई महिला भोजन दे जाय, उस गाय को उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है, उसे तो ग्रास अर्थात् घाससे प्रयोजन है। ऐसे ही उन साधुजनोंको कैसी ही कुरूप अथवा सुन्दर अथवा बहुत ही श्रृङ्गारयुक्त कोई भी महिला भोजन दे जाय, उससे उन्हें कुछ प्रयोजन नहीं है, उनका प्रयोजन तो सिर्फ ग्रास खानेसे है। रूप श्रृङ्गार आदिक पर उनकी दृष्टि नहीं है। एक चौथी प्रकारकी वृत्ति है अक्षमृक्षणवृत्ति। जैसे गाड़ीका पहिया चलता है तो पहियेमें जब तक ऊंधन न डाला जाय अर्थात् ग्रीस न डाली जाय तब तक पहिया ठीक ठीक नहीं

http://www.jainkosh.org

चलता है, टूट जायेगा, मशीन बिगड़ जायेगी, इसी प्रकार यह शरीररूपी चक्का चल रहा है इसमें कुछ ग्रीस डालने की जरूरत है इस दृष्टिसे कि यह शरीर चले, क्योंकि यह संयमका साधन है, शरीरको रखना है. इस भावसे शरीरके रखनेके लिए जो औंगनकी तरह आहार डाला जाता है ऐसी विधि है इसलिये इसका नाम अक्षमृक्षणवृत्ति है। प्रवचनसारमें अमृतचन्द्रसूरिने एक जगह बताया है कि साधु महाराज इतना विरक्त होते हैं कि वे आहार का परित्याग करके ही रहें ऐसा उनका भाव है और ऐसा वे करते हैं लेकिन विवेक साधुका हाथ पकड़कर ले जाता है कि तुम चर्या करो, भोजन करो। जैसे एक किवाड़ इस ढगका होता है कि उसके बंद ही रहनेका स्वभाव है, उसमें स्प्रिंग लगा होता है। उसे कोई जबरदस्ती खोले तो जब तक वह खोले रहता है तब तक खुला रहेगा उसके छोड़ देने पर वह फिर झट बन्द हो जायेगा। तो ऐसे ही समझिये कि आहार आदिककी प्रवृत्ति सब बन्द हैं साधुके लिये, यह तो सदा के लिए है, मगर यह विवेक पकड़कर खिलाता है। विवेक मानो कहता है कि ऐ साधु तू आहार कर। देख यह आहार शरीरका साधक है और यह शरीर तेरी आत्मसाधनाका साधक है। तू आहार ग्रहण कर। देख तुझे संयम पालना है ना, तुझे आत्मसाधना करना है ना ? तू आहार ग्रहण कर तो निराकुलतासे तेरेमें ध्यानकी सिद्धि बनेगी। इस प्रकार यह विवेक मनाता है तब वे आहारको उठते हैं, नहीं तो बंद है। सभी पदार्थोंसे उनके उपेक्षावृत्ति है। जो समतापरिणामकी साधनामें लगे हैं, जो व्यवहारके कार्योंसे अति उदासीन हैं, व्यवहार कार्योंमें जिनकी रुचि नहीं जगती है, जो स्वभावमात्र आत्मतत्त्वके मननमें निवास किया करते हैं ऐसे मुनिजन जब कभी आहारके अर्थ इन चार वृत्तियोंसे घर पर आये हुए हों और उन्हें गृहस्थ आहार न दे सके तो वह लोभवान् कैसे न कहा जायेगा ? किसी के मानलो धनका भी लोभ न हो तो शरीरका लोभ तो हुआ मनका लोभ तो हुआ। अतएव श्रावक जो अतिथि-सम्विभाग व्रतका पालन करता है वह अहिंसाकी सिद्धि करता है। गृहस्थावस्थामें रहकर जिस पद्धतिसे अहिंसाव्रतकी साधना हो सकती है उसके योग्य आचरण होना चाहिए, उसमें साधक के बारह व्रत हैं।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

अतिथिसंविभागव्रतमें अहिंसाधर्मकी सिद्धिका प्ररूपण—अपने लिए बनाया हुआ भोजन मुनिके लिये देना चाहिए जिसके न अप्रेम है, न विषाद है। इस प्रकारके भावपूर्वक जो गृहस्थ आहारदान करता है उसको समझो लोभ शिथिल हुआ है। जिसने लोभको शिथिल कर दिया वह गृहस्थ अहिंसा स्वरूप ही है। देखो साधुके लिए अलग से भोजन बनाना पड़े तो उसे देनेमें कोई कष्ट नहीं होता, क्योंकि उसीके लिए बनाया गया, आये तो उनको ही दे दिया, लेकिन अपने घरके लिए बन रहा भोजन हो, सबके लिए बन रहा भोजन हो, उस बीचमें कोई अतिथि आ जाय तो उसमें से भोजन देनेमें सम्भावना है कि कुछ अरति हो जाय, कुछ विषाद भी हो सके। जैसे कि कल्पनामें ऐसा प्रसंग लाये कि घरमें ५ मनुष्य हैं, ५ के लिए ही भोजन बना और ऐसे समयमें कोई दो महिमान आ जायें, आपके रिश्तेदार कोई आ जायें तो चूंकि उनसे प्रीति है इस कारण स्वयंको खेद न होगा, लेकिन जिससे अधिक सम्बन्ध नहीं, अधिक प्रीति नहीं और आ जाय तो कुछ विषादसा भी हो सकता है। तो एक कल्पनामें दृष्टान्तमें बताया गया है लेकिन यहां गृहस्थ जो धर्मभावना वाले हैं, साधुके विशेष गुणानुरागी हैं ऐसे गृहस्थोंको उस जगह न अप्रेम होता है, न विषाद होता है। तो भला बतलावो कि विषादरहित गुणानुराग सहित अतिथिके लिये जो गृहस्थ उस भोजनमें से जो अपने घरके लिए बनाया गया है वह दान करे तो उसका लोभ शिथिल हुआ कि नहीं ? ऐसा निर्लोभ गृहस्थ मानो अहिंसास्वरूप ही है। तो इस अतिथिसम्विभागव्रतमें मुनि का दुःख दूर हुआ, सो भी अहिंसा हुई और अपना परिणाम निर्मल हुआ अविकारी निर्दोष आत्मस्वभाव की ओर दृष्टि जगी उन साधुवोंके दर्शनसे, सो भावोंमें भी अहिंसा हुई। इस तरह अतिथि सम्विभागव्रतमें अहिंसाका पालन होता है। आजकलकी रिवाजमें चूंकि गृहस्थजन शुद्ध भोजन नहीं करते तो उनको अलगसे बनाना होता है, उसमें वे खेद मानते हैं। इस सम्बन्धमें इतना ही

Version 1